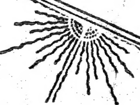


मानस-दर्पण



Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Ld., Allahabad.—1921

मानस-दर्पण

अर्थात्

श्रीगोस्वामि तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस'

की

विवेचना, रस, भाव, अलंकार, गुण, रीति आदि पर

भाषा-साहित्य-ग्रंथ

"परमानंदपत्रोऽयं जंगमस्तुलसी तरुः ।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥"

लेखक

चन्द्रमौलि सुकुल, 'सत्य', एम० ए०, एल० टी०

प्रकाशक

इण्डियन प्रेस, प्रयाग ।

१९२०

 द्वितीयावृत्ति [मूल्य ॥)

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the
Indian Press, Allahabad.

श्रीगणेशाय नमः ।

विद्वत्सु राना शिवराजसिंह—
वीरेषु 'सत्येन' कृत-श्रमेण ।
ग्रन्थो नवो मानसदर्पणाख्यः—
समर्पितोऽयम्बहुमानपूर्व्वम् ॥ १ ॥

प्रसादिता येन सुराः क्रियाभि—
र्धृता क्षमा राज्यनयेन येन ।
सन्तो भृता येन समाः सहस्रम् —
जीयात्स राना शिवराजसिंहः ॥ २ ॥

ग्रन्थकृत् ।

PREFACE.

WHEN I was studying Sanskrit rhetorics at the College, I thought of writing a treatise on Hindi rhetorics, which might be within the reach of everybody. So I began at once, but anyhow the book could not be given to the press.

All the definitions of Rasas, Bhavas, styles, merits, figures, etc., have been taken from Sanskrit books and illustrated by examples from Tulsi Dása's Hindi Rámáyan (Rámacharitamánasa), except once or twice where examples have been taken from Barawá Rámáyan of the same poet. This, serves two objects: first, only one book, which is to be found in every Hindu household and read by every Hindi-knowing person, is required to be consulted; secondly, there is no trace of obscene matter usually found in other books on rhetorics.

I have tried my best to elucidate the matter, but the nature of the subject is such that, howsoever explained, it remains a little complicated.

In the introduction a review has been made on Tulsi Dasa and his Rámáyan, in which I have taken some help from Pandit Rameshwar Bhatt's commentary which I gratefully acknowledge.

ALLÁHABAD: CHANDRA MAULI SUKUL.
January 6th, 1913.

भूमिका

जब मैं कालेज में संस्कृत-साहित्य पढ़ता था तब मेरे मन में यह बात आई कि भाषा का भी कोई अलंकार-ग्रंथ ऐसा होना चाहिए जो सबकी पहुँच में हो। इस अभिप्राय से उसी दिन लिखना आरंभ कर दिया, परंतु कुछ कारण से उस समय पुस्तक छापेखाने तक न पहुँच सकी।

इस पुस्तक में अलंकारों आदि के लक्षण संस्कृत-साहित्य से और उदाहरण तुलसीदासजीकृत 'रामचरित-मानस' से लिये गये हैं; पर दो एक स्थानों में 'बरवा रामायण' से भी लिये हैं। इससे दो काम सिद्ध होते हैं, एक तो उदाहरण देखने के लिए सैकड़ों पुस्तकें नहीं खोजनी पड़तीं, किन्तु केवल एक ही पुस्तक से पूरा काम चल जाता है, जो हर एक घर में पाई जाती है; दूसरे इसी बहाने राम जी का नाम निकलता है और अन्य अलंकार-ग्रंथों के कामाचारवाली फूहड़ बातों से बचाव होता है।

यथाशक्ति विषय के स्फुट करने का यत्न किया गया है; परंतु यह विषय ही ऐसा है कि चाहे जितना सुरझाया जावे, कुछ न कुछ उरझा ही रहता है।

उपोद्घात में तुलसीदास जी और उनके ग्रंथ रामचरित-मानस की कुछ विवेचना की गई है जिसमें कुछ सहायता पंडित रामेश्वर भट्ट की टीका से ली है; अतः उसे धन्यवाद-सहित स्वीकार करता हूँ।

चन्द्रमौलि सुकुल।

उपोद्‌घात ।

—:o:—

श्रीगोस्वामि तुलसीदासजी ।

जीवन-चरित्र का अभाव ।

पुराने समय में हमारे देश में जितने बड़े बड़े कवि हो गये हैं उनमें से प्रायः बहुतों का कोई ठीक ठीक लिखा पढ़ा वर्णन नहीं मिलता । इसका कारण यह है कि उस समय न तो इतिहास लिखने की प्रथा बहुत प्रचलित थी और न उन महा कवियों ही को अपने जन्म-कर्म का सब हाल कह कर अपने मुँह मियाँमिट्‌ठू बनने की आकांक्षा थी, परन्तु तब भी परमेश्वर के सामने अपनी दीनता दिखाने के लिए या ऐसे ही और किसी अभिप्राय से कभी कभी जो दो-चार शब्द निकल पड़े उन्हीं से आधुनिक पंडित कुछ अनुमान कर लेते हैं ।

दूसरा द्वार उनके जीवन-चरित्र जानने का यह है कि उनके पीछे-वाले लोगों ने उनके महत्त्व-वर्णन में कुछ कहा है । परन्तु इनमें कभी कभी इतनी अतिशयोक्ति पाई जाती है कि सत्यासत्य का विवेक अत्यन्त कठिन है । इन अतिशयोक्तियों को देख कर साधारण मनुष्य भी सैकड़ों स्वकपोलकल्पित बातें गढ़ लेते हैं जो

अलौकिक शक्ति-विषयक होने के कारण शीघ्र प्रचलित हो जाती हैं और बचे खुचे सत्य वृत्तान्त को भी लुप्त कर देती हैं ।

श्रीतुलसीदासजी के संबन्ध में सैकड़ों गप्पें और कहानियाँ हैं जो प्रकट करती हैं कि वह महात्मा उठते बैठते भी आश्चर्यजनक बातें और 'करामातें' दिखाया करते थे। अर्धरात्र में भादों की बढ़ी हुई यमुना को तैर कर पार कर जाना, रस्सी के धोखे काले नाग को पकड़ कर अपने श्वशुर के कोठे पर चढ़ जाना, उस अँधेरी रात में ठीक अपनी स्त्री ही के पलँग पर पहुँच जाना, स्त्री के एक उपदेश से वैराग्य का धारण करना, खड़ाऊँ पर चढ़ कर रोज़ गंगा पार करना, मुर्दे को जिलाना, श्रीविश्वनाथ जी के प्रस्तर निर्मित नाँदिया को अन्न भोजन कराना आदि शतशः बड़े बड़े कर्म वर्णन किये गये हैं। मेरा विचार है कि तुलसीदासजी को इन गोरखधंधों से तो छुट्टी ही न मिलती होगा, रामजी का भजन कब करते होंगे और अपने जगद्विख्यात ग्रंथ कब लिखते होंगे ।

ऐसी गप्पों के बनानेवाले लोग प्रायः या तो कम पढ़े लिखे थे या अधिक ज्ञानवान् होने पर भी इतने भक्त थे कि येन केन प्रकारेण तुलसीदासजी का उत्कर्ष बढ़ाना चाहते थे। पर मेरी अल्प बुद्धि में तो यह आता है कि जिस कवि-शिरोमणि ने रामायण-रूप जलयान बनाकर मग्नप्राय भारत धर्म का उद्धार कर लिया, जिस परम भक्त ने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जी के चरणारविन्द की भक्ति ही में अपना जीवन व्यतीत कर दिया और अन्त में अपार संसार-सागर को गोपद की तरह पार कर दिया, उस परम पूज्य

पुरुष का उत्कर्ष खड़ाऊँ पहन कर गंगापार उतर जाने से कुछ भी नहीं बढ़ता। अस्तु, मैं किसी पर दोषारोपण नहीं करता।

जन्म।

बहुत से विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि श्रीतुलसीदासजी का जन्म बाँदा ज़िले के राजापुर ग्राम में विक्रम संवत् १५८९ में हुआ। यह पराशर-गोत्री सरयूपारी द्विवेदी ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम आत्माराम था। कहा जाता कि अभुक्त मूल में पैदा होने के कारण जब यह फेंक दिये गये तो महात्मा नृसिंहदास इनको शूकर क्षेत्र (सोरौं) उठा ले गये। तुलसीदास जी स्वयं कहते हैं 'जननि जनक तज्यो जनमि'। कदाचित् इसका अभिप्राय यह हो कि तुलसीदासजी की बालावस्था ही में उनके माता पिता परलोकगामी हो गये हों, तब वे घर छोड़ साधुओं में मिल गये हों। नृसिंह साधु ने शूकर क्षेत्र में इनको रामजी की कथा सुनाई, 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु शूकर खेत', और रामचरणों में भक्ति उपजाई।

दीनबंधु पाठक की कन्या के साथ गोसाईंजी के विवाह का हाल, उनके स्त्रीप्रधान होने का हाल, यमुना तैर कर और साँप के द्वारा छत पर चढ़ कर अपनी स्त्री के पास पहुँचने का हाल, और उसके झुँझलाने पर वैराग्य लेने का हाल बहुत प्रसिद्ध है। पंडित जन स्वयं विचार सकते हैं कि इसमें कितना अंश सत्य है।

जो हो, तुलसीदासजी काशी पुरी चले गये और वहाँ भगवत्पूजा में तत्पर रहे। कहा जाता है कि यहाँ पर एक प्रेत के द्वारा तुलसीदासजी को श्रीहनुमान्जी के दर्शन हुए, और उनके द्वारा

चित्रकूट में श्रीरामजी के दर्शन हुए। चित्रकूट से लौट कर गोसाईंजी अयोध्या को गये और वहाँ पर "संवत् सोरह सौ यकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि शीसा। नवमी भौमवार मधुमासा। अवध पुरी यह चरित प्रकासा।" रामचरितमानस लिखना आरंभ किया। परन्तु अन्य संप्रदायवालों से झगड़ा होने के कारण वे फिर काशीजी को चले गये। किष्किंधा-कांड से आगे रामचरितमानस यहीं पर लिखा। इस कांड के आदि में काशीजी की वंदना है—

"मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि कर।
जहँ बस शंभु भवानि, सो काशी सेइय कस न॥"

इस समय धर्म की ऐसी विचित्र गति थी कि जो मनुष्य एक देवता को पूजता था वह अन्य देवताओं के पूजनेवालों को शत्रु-भाव से देखता था। यही नहीं, किन्तु एक ही देवता के पूजनेवालों के भिन्न भिन्न मत थे। बहुत से लोगों का यह भी मत था कि धर्म-ग्रन्थ केवल संस्कृत ही में होने चाहिएँ; भाषा में देवता प्रसन्न नहीं होते। परिणाम यह हुआ कि तुलसीदासजी के बहुत से शत्रु हो गये और उनका अपमान करने पर उद्यत हुए। परन्तु धीरबुद्धि और सहनशील गोसाईंजी ने एक बात की भी परवा न की और अपनी दृढ़ता तथा आत्मबल से सबको चकित कर दिया। जिन बातों से गोसाईंजी ने अपना प्रभाव अन्य लोगों पर पूर्णतया डाल दिया उनकी बहुत सी कहानियाँ विख्यात हैं जिनके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; परन्तु सबकी मूलभूत बात यह है कि उनमें अलौकिक शील था और अपार दृढ़ता थी। लोहे पर पटकने से काष्ठ ही के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं; और लोहा जैसे का तैसा ही बना रहता है।

तुलसीदासजी की दृढ़ता, भक्ति और कविता का यश दूर दूर फैल गया, और बड़े बड़े महात्मा लोग इनके दर्शन को उत्सुक हुए, यहाँ तक कि इनको बादशाह दिल्ली के दरबार में जाना पड़ा। वहाँ से लौटते समय वृंदावन गये और नाभा जी से मिले, तब फिर काशीजी को चले आये।

गोस्वामीजी का वैकुंठवास संवत् १६८० में श्रावण शुक्ल ७ को, ९१ वर्ष की अवस्था में हुआ—

'संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥'

ग्रन्थ।

तुलसीदासजी के बनाये ग्रन्थ ये हैं:—(१) रामचरितमानस, (२) कवित्त रामायण, (३) विनयपत्रिका, (४) बरवारामायण, (५) रामसतसई, (६) पार्वती-मंगल, (७) जानकी-मंगल, (८) हनुमान् बाहुक, (९) वैराग्यसंदीपिनी, (१०) गीतावली, (११) कृष्णावली, (१२) दोहावली, (१३) कुंडलिया रामायण, (१४) कड़का रामायण, (१५) झूलना रामायण, और भी बहुत से छोटे छोटे ग्रन्थ।

इनमें से कई ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके पृथक् पृथक् भाग भिन्न भिन्न समयों पर लिखे हुए मालूम होते हैं; और पीछे से या तो स्वयं कवि ही ने या और किसी महात्मा ने उनको इकट्ठा करके ग्रंथ के आकार में कर दिया, जैसे बरवारामायण आदि। दूसरी बात देखने के योग्य यह है कि बहुत से दोहे कई ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

मनुष्य का सनातन से यह धर्म चला आता है कि जब किसी

कवि की कविता बहुत प्रचलित हो जाती है तो और लोग भी पीछे से अपनी कविता बना कर उसके नाम से प्रकाशित कर देते हैं जिससे उस नई कविता का भी वही आदर हो जो कवि की सच्ची कविता का होता है । तुलसीदासजी भी इससे नहीं बचे । कहा जाता है कि पहले तुलसीदासजी निर्गुणवादी थे और उन्होंने एक बड़ी पुस्तक 'घटरामायण' नामक निर्गुणब्रह्म पर बनाई थी । परन्तु वह समय निर्गुणवाद का नहीं था, इसलिए वह पुस्तक न चली; तब गोसाईंजी ने उसे गुप्त कर डाला और सगुण उपासना पर 'रामचरितमानस' बनाया जिसका बड़ा आदर हुआ । धीरे धीरे जब निर्गुणवाद का समय आ गया तो वह पुस्तक 'घट रामायण' प्रकट हुई और प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस के स्वामी ने बड़े परिश्रम के साथ उसे ढूँढ़ कर प्रकाशित किया है ।

पुस्तक के देखने ही से विदित होता है कि यह तुलसीकृत नहीं है, क्योंकि उनकी कविता की छटा ही और है, 'नहि कस्तूरिकाऽऽमोदः शपथेन विभाव्यते' ।

इसी प्रकार 'आठवाँ, लव-कुश कांड' भी तुलसीकृत नहीं है ।

इन सब ग्रन्थों में से 'रामचरितमानस' का बड़ा प्रचार है जिसके कुछ कारण आगे का वर्णन पढ़ने से समझ में आ जावेंगे ।

रामचरितमानस का समय ।

इसका आरंभ संवत् १६३१ अर्थात् सन् १५७४ ईसवी में हुआ, जब दिल्ली में अकबर बादशाह का राज्य था । देश में तीन सौ वर्ष से ऊपर मुसलमानी राज्य रह चुकने के कारण हिंदूधर्म की पताका नीची हो गई थी । बादशाहों का यही यत्न होता था कि किसी

प्रकार मुसलमानों की संख्या बढ़ाई जावे, जिससे राज्यस्थिति पक्की हो जावे; हिंदुओं से 'जज़िया' नामक कर लिये जाते थे; मुसलमान हो जाने पर अनेक प्रकार का सहारा मिलता था; किसी हिंदू शासक का डर नहीं था। परंतु अकबर के राज्य में यह सब बातें कम हो गईं। फिर क्या था, सूखता हुआ पौधा नया होने लगा और अल्प काल ही में इतनी शाखायें निकलीं कि जिनका गिनना दुस्तर है। एक एक देवता के पूजनेवालों के अनेक अनेक संप्रदाय हो गये; कोई एक ओर खींचने लगा, कोई दूसरी ओर। फल यह हुआ कि एक दूसरे में वैरभाव बढ़ा, यहाँ तक कि वैष्णव के लिए शिव का नाम लेना पाप समझा जाने लगा। एक मत की पुस्तक का दूसरे मतवाले अनादर करने लगे, और जब कोई कवि नई पुस्तक लिखता था तो अपने साथियों को बटोर कर उनसे सहायता लेता था कि अन्य लोग बाधा न डालें। इसी लिए गोसाईंजी ने रामचरितमानस के आदि में देवताओं की जितनी स्तुति की है उससे डयोढ़ी दुष्टों की की है।

उत्तर-कांड में काकभुशुंडी ने गरुड़जी से जो कलियुग का वर्णन किया है वह यथार्थ में तुलसीदासजी के समय का वर्णन है; या गोसाईंजी ने देशकाल की दशा को देख कर अपनी बुद्धि से अनुमान कर लिया हो कि कुछ समय पीछे यही हाल होगा।

बिगाड़ की दवा।

तुलसीदासजी ने अपनी पुस्तक को ऐसे 'अमिय मूरिमय चूरण चारु' से लिखा है कि जिससे बिगाड़रूप 'सकल भव रुज परिवारू' शमन हो जाते हैं। न किसी देवता की निन्दा है, न किसी मतानु-

यायी से विरोध। एक दूसरे के परम विरोधी शैव और वैष्णव तो दुग्ध और शर्करा की तरह एक में मिला लिये गये हैं।

"शंकर-प्रिय मम द्रोही, शिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिँ कल्प भरि, घोर नरक महँ वास॥"

तुलसीदासजी की इच्छा कोई नया मत स्थापित करने तथा सैकड़ों चेले मूँड़ने की नहीं थी, किन्तु पक्षपातरहित होकर किसी देवता में भक्ति करने की थी। इसी लिए यद्यपि लोग पहले उनके काम में विघ्न डालने की आकांक्षा रखते थे, तथापि अन्त में जब उन को ज्ञात हो गया कि रामचरितमानस सब मतों का माननीय है तो सबने इसका आदर किया। और प्रभाव यह पड़ा कि संस्कृत न जाननेवाले लोग जो अविद्या के कारण कुमार्गों पर जाते थे ठीक होने लगे; और भिन्न भिन्न देवताओं के पूजनेवालों में जो विरोध रहता था वह कम पड़ने लगा। अब रामचरित-मानस का इतना प्रचार है कि क्या पंडित, क्या साधारण मनुष्य, सभी के पास यह ग्रंथ रहता है और प्रेम-पूर्वक पढ़ा जाता है।

नाम।

तुलसीदासजी ने अपने ग्रंथ का नाम 'रामचरितमानस' क्यों रक्खा? इसका कारण बालकांड के आदि में सविस्तर वर्णित है। रामजी का चरित एक पुण्यमय मानससरोवर है जिसमें स्नान करने से त्रिविध ताप दूर होते हैं।

रचि महेश निज मानस राखा। पाइ सुसमय शिवा सन भाखा॥
ताते रामचरितमानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥

मानस-दर्पण ।

—:o:—

सोरठा ।

श्री रामहिँ शिर नाय, जनकसुतहिँ निज गुरुवरहिँ ।
विरचत ग्रंथ बनाय 'मानस-दर्पण' 'सत्य' यह ॥
चारि पदारथ काव्य ते , वाक्य रसात्मक सोय ।
अलङ्कार गुण रीति ते , बढ़त दोष ते गोय ॥

काव्य का प्रयोजन ।

इससे चारों पदार्थ अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष मिलते हैं । बहुत से कवि अपनी कविता किसी धनी पुरुष के अर्पण करके उससे द्रव्योपार्जन करते हैं । काव्य में परमेश्वर के चरणारविन्दों की स्तुति पढ़ने तथा सुनने से धर्म होता है । अर्थ-प्राप्ति के द्वारा सांसारिक कामनायें पूर्ण होती हैं । काव्योक्त धर्म के करने से मोक्ष होता है । श्रेष्ठ कवियों का यश संसार में छा जाता है । काव्य के पढ़ने से नाना प्रकार के व्यवहार ज्ञात होते हैं, अशुभ का नाश होता है, उत्तम उत्तम उपदेश मिलते हैं और तत्क्षण ही एक अलौकिक अवर्णनीय तथा हृदय-वेद्य आनन्द प्राप्त होता है । तुलसीदासजी के रामचरितमानस में सम्पूर्ण गुण हैं ।

काव्य क्या है ?

काव्य रसात्मक वाक्य है; अर्थात् ऐसा वाक्य है जिसका प्राण रूप, सार रूप, जीवनाधायक रूप रस हो। शब्द और अर्थ केवल काव्य के शरीर रूप हैं।

काव्य का उत्कर्ष तथा अपकर्ष।

जैसे किसी पुरुष का उत्कर्ष अलंकारों से (कुण्डलादि से), गुणों से (शूरता आदि से), और अंगों की बनावट से होता है, और उसका अपकर्ष दोषों से (काणत्व, वधिरत्व, पंगुत्व आदि से) होता है, उसी प्रकार काव्य का उत्कर्ष अलंकारों से (उपमा आदि से), गुणों से (माधुर्य आदि से), और रीतियों से (कोमल आदि से) होता है, और अपकर्ष दोषों से (निरर्थकत्व आदि से) होता है।

वाक्य क्या है।

पदों के उस समूह को वाक्य कहते हैं जो अपनी शक्ति विशेष से किसी अर्थ को उत्पन्न करे। यह अर्थ तीन प्रकार से जाना जाता है (१) अभिधा से, (२) लक्षणा से, और (३) व्यञ्जना से।

(१) अभिधा।

जाति, गुण, द्रव्य, और क्रिया के संकेत करने के लिए जो शब्द नियत कर लिये गये हैं उन शब्दों से उन्हीं संकेतित वस्तुओं का ज्ञान अभिधा कहलाता है। जैसे 'धेनु आ रही है' इस वाक्य में 'धेनु' शब्द जीव विशेष के लिए नियत है और 'आना' शब्द एक क्रिया-विशेष के लिए नियत है। शब्द जिस जीव तथा क्रिया के लिए नियत हो गये हैं उन्हीं का ज्ञान अभिधा है।

(२) लक्षणा ।

यदि अभिधा वाला अर्थ न लेकर उसके सम्बन्ध वाला कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करें तो लक्षणा होती है। जैसे 'भारतवर्ष धार्मिक है' इसमें अभिधा के अनुसार भारतवर्ष एक देश का नाम है, और देश धार्मिक नहीं हो सकता, इसलिए 'भारतवासी लोग धार्मिक हैं' यह अर्थ लिया गया अर्थात् 'भारतवर्ष' से भारत-वासी लोगों का अभिप्राय है।

(३) व्यञ्जना ।

यदि शब्दों का सांकेतिक अर्थ तथा उसके सम्बन्धवाला अर्थ न लिया जाय, किन्तु कुछ अन्य अर्थ लिया जावे तो व्यञ्जना होती है। जैसे—

कहेउ लखण मुनि शील तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा।

अभिधा से तो इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि हे मुने! संसार में तुम्हारा शील कौन नहीं जानता परन्तु आशय इसके विपरीत है कि हे मुने, संसार में तुम्हारी दुःशीलता प्रत्येक जन जानता है। शब्दों का सांकेतिक अर्थ अन्य है और भावार्थ उसके विपरीत है; यह व्यञ्जना हुई।

रस क्या है ?

रस वह वस्तु है जिसका आस्वादन किया जाय। काव्य में रस उस अलौकिक आनन्द का नाम है जिसके हृदयगत होते ही अन्य विषय का सम्पर्क या लगाव न रह सके। ब्रह्मानन्द के समान इस आनन्द में सत्व गुण की अधिकता, और रजोगुण, तमोगुण के अभाव से आत्मा प्रकाशित हो जाता है। इस आनन्द का अनुभव

सहृदय जन करते हैं परन्तु इसका शब्दों में वर्णन करना कठिन है । रस काव्य का जीव है ।

यह सन्देह न करना चाहिए कि करुण (शोक) तथा बीभत्स आदि रसों में आनन्द क्यों कर होता है क्योंकि यदि वह आनन्द न हो तो इन रसों को प्रकट करनेवाली कविता (जैसे श्रीरामजी का वन-गमन, दशरथजी का स्वर्ग-वास, वैदेही-हरण आदि) को कौन पढ़े ?

रस के भेद ।

रस शृँगार अरु हास्य हैं, करुण भयानक वीर ।
रौद्र बिभत्सरु अद्भुत, नवम शांत मति धीर ॥

अर्थ ।

रस नव हैं (१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) भयानक, (५) वीर, (६) रौद्र, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत, और (९) शान्त ।

हर एक रस में कुछ विशेष बातें होती हैं, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि और स्थायिभाव, इनमें से पहले तीन के द्वारा स्थायिभाव रस बनकर प्रकट होता है ।

विभाव ।

विभाव वह है जिससे रस के आस्वादन का अंकुर उगे । यह या तो आलम्बन होता है या उद्दीपन । आलम्बन उस वस्तु का नाम है जिसके बिना रस उत्पन्न ही न हो सके, जैसे शृंगार रस में नायक (पुरुष) और नायिका (स्त्री) । उद्दीपन वह है जो रस को उद्दीपित अर्थात् प्रज्वलित करता है, जैसे शृंगार रस में चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि ।

अनुभाव ।

जब रस का बीज हृदय में उग चुका तो उसका भाव बाहर भी कार्यरूप से प्रकाशित होता है, इसे अनुभाव कहते हैं, जैसे शृंगार में कटाक्ष आदि ।

व्यभिचारिभाव ।

विभाव और अनुभाव की अपेक्षा इसमें रस की अनुकूलता अधिक होती है। और इसका कभी आविर्भाव होता है कभी तिरो-भाव होता है । जैसे शृंगार में चपलता आदि ।

स्थायिभाव ।

यही रस का मूल अथवा अंकुर है और विभाव आदिक इसी को प्रकट करते हैं जैसे शृंगार में रति ।

शृङ्गार ।

रति इसका स्थायिभाव वा अंकुर है; नायक और नायिका आलम्बन हैं; चन्द्र चन्दन भ्रमर आदि उद्दीपन हैं; भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव हैं; श्रम, मद, जड़ता आदि व्यभिचारी हैं ।

उदाहरण ।

(१.) कंकण किंकिणि नूपुर ध्वनि सुनि । कहत लषण सन राम हृदय गुनि ।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही । मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही ॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय मुख शशि भये नयन चकोरा ।
भये विलोचन चारु अचञ्चल । मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगञ्चल ॥
देखि सीय शोभा सुख पावा । हृदय सराहत वचन न आवा ।

(२) विरह विकल बल हीन मोहिं , जानिसि निपट अकेल ।
सहित विपिन मधुकर खगन्ह , मदन कीन्ह बगमेल ॥

प्रथम में सम्भोग शृंगार है और दूसरे में विप्रयोग अर्थात् विरह शृंगार है।

हास्य।

हँसी इसका स्थायिभाव है; हँसी देनेवाले आकार, वाक्य, चेष्टा आदि से यह उत्पन्न होता है; आँखों का संकोच, हँसना आदि अनुभाव है; निद्रा, आलस्य आदि व्यभिचारी हैं।

३०—मुनि हित कारण कृपा निधाना। दीन्ह कुरूप न जाय बखाना।
× × × × ×
करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्ह हरि सुन्दरताई॥
रीझिहि राज कुँवरि छबि देखी। इनहिँ बरिहि हरि जानि विशेषी।
× × × × ×
पुनि पुनि मुनि उसकहि अकुलाहीं। देखि दशा हर गण मुसुकाहीं॥
× × × × ×
तब हर गण बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर विलोकहु जाई।

करुण।

इष्ट-नाश तथा अनिष्ट-प्राप्ति से जो शोक होता है वह इसका स्थायिभाव है; शोच्य वस्तु आलम्बन है; दैव की निन्दा, रोना आदि अनुभाव हैं। विवर्णता, निःश्वास, मोह, विषाद, चिन्ता आदि व्यभिचारी हैं।

सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठउ न सुनि मम बच विकलाई।
जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
यथा पंख बिनु खगपति दीना। मणि बिनु फणि करिवर कर हीना।
अस मम जिवन बन्धु बिन तोहीं। जो जड़ दैव जियावै मोहीं॥
× × × × ×
बहु बिधि शोचत शोच विमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन।



भयानक ।

भय इसका स्थायिभाव है; भयजनक वस्तु आलम्बन है; विवर्णता, गद्गद स्वर अनुभाव हैं; स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, दीनता आदि व्यभिचारी है ।

उ०—भरि भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल विचारहीं ।
कोदंड भंजेहु राम तुलसी जयति वचन उचारहीं ॥

वीर ।

उत्साह इसका स्थायिभाव है; जिसको जीतते हैं वह आलम्बन है; सहाय ढूँढ़ना आदि अनुभाव हैं; धैर्य गर्व आदि संचारी हैं ।

जो राउर अनुशासन पाऊँ । कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकौं मेरु मूलक इव तोरी ।
तव प्रताप महिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ॥
कमलनाल इव चाप चढ़ावों । शत योजन प्रमाण लै धावों ।
तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ ।
जो न करौं प्रभु पद शपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ ॥

रौद्र ।

क्रोध इसका स्थायिभाव है; शत्रु आलम्बन है; भ्रुकुटी चढ़ाना, ओष्ठ चाबना, अस्त्र फेंकना, वेग आदि अनुभाव हैं; मोहादि व्यभिचारी हैं ।

उ०—क्रुद्धे कृतान्त समान कपि तनु स्रवत शोणित राजहीं ।
मर्दहिं निशाचर कटक भट बलवन्त जिमि घन गाजहीं ॥
मारहिं चपेटन काटि दाँतन डारि लातन मींजहीं ।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं जेहि खल छीजहीं ॥

बीभत्स ।

जुगुप्सा (घृणा) इसका स्थायिभाव; दुर्गन्ध, मांस, रुधिर आदि आलम्बन है । थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मूँद लेना आदि अनुभाव हैं; मोह, भूलना, व्याधि आदि व्यभिचारी हैं ।

उ०—मज्जहिं भूत पिशाच वैताला । केलि करहिं योगिनी कराला ।
काक कंक धरि भुजा उड़ाहीं । एक ते एक छीनि धरि खाहीं ॥
खैंचहिँ आँत गृद्ध तट भये । जनु बनशी खेलत चित दये ।

× × × × ×

जम्बुक निकर तहाँ कटकटहीं । खाहिँ अघाहिँ हुवाहि दपटहीं ।
कोटिन रुण्ड मुण्ड बिनु डोलहिँ । शीश परे महि जय जय बोलहिँ ॥

अद्भुत ।

विस्मय इसका स्थायिभाव है; आश्चर्यजनक वस्तु आलम्बन है; स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर आदि अनुभाव हैं; वितर्क, भ्रांति, हर्ष आदिक व्यभिचारी हैं ।

उ०—दिखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड ।
रोम रोम प्रति राजहिं, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ॥

× × × × ×

तनु पुलकित मुख वचन न आवा । नयन मूँदि चरणन शिर नावा ।
विस्मयवन्त देखि महतारी । भये बहुरि शिशु रूप खरारी ॥

शान्त ।

शान्ति इसका स्थायिभाव है; संसार की अनित्यता, निःसारता अथवा परमात्मा का स्वरूप आलम्बन हैं; पुण्याश्रम, रम्य वनादि, सत्संग आदि उद्दीपन हैं; रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं; निर्वेद, हर्ष, बुद्धि, भूतदया आदि व्यभिचारी हैं ।

उ०—पाई न गति केहि पतित पावन राम भजु सुनु शठ मना ।
गणिका, अजामिल, गृध्र व्याध गजादि खल तारे घना ॥
आभीर यवन किरात खल श्वपचादि अति अघ रूप जे ।
कहि नाम वारेक तेपि पावन होत राम नमामि ते ॥

× × × × ×

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुवीर ।
अस विचारि रघुवंशमणि, हरहु विषम भवपीर ॥

भाव ।

यद्यपि रस प्रधान है और व्यभिचारी आदि उसके अंग हैं, तथापि जैसे कोई राजा अपने किसी कर्मचारी के विवाह में उसके पीछे चलता है, और प्रधान नहीं गिना जाता, इसी प्रकार कभी कभी व्यभिचारी भी प्रधान रूप से प्रकट होते हैं और भाव कहलाते हैं । इसी प्रकार यदि देवता, मुनि, गुरु, राजा आदि के विषय में रति हो या कोई स्थायीभाव विभावादिकों से पुष्ट न हो तो भी भाव होता है ।

उ०—देखि मनोहर चारिउ जोरी । शारद उपमा सकल ढ़ँढोरी ।
देत न बनहि निपट लघु लागी । इकटक रही रूप अनुरागी ॥

यहाँ पर इकटक रहना अर्थात् शरीर की जड़ता व्यभिचारी है परन्तु प्रधान रूप से दिखाई गई है अर्थात् सम्पूर्ण वाक्य का फल इकटक रहना है ।

जिनके चरण सरोरुह लागी । करत विविध जप योग विरागी ॥
ते दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते । गुरु पद कमल पलोटत प्रीते ।

इसमें विश्वामित्र विषयक रति प्रकट है ।

लक्ष्मण अति लाघव तिहि, नाक कान बिनु कीन्ह ।
ताके कर रावण कहँ, मनहुँ चुनौती दीन्ह ॥

यहाँ पर क्रोध स्थायिभाव है नाक कान काटने से (अनुभाव मात्र से) प्रकट होता है; विभावादिकों से उसकी पुष्टि नहीं होती इसलिए भाव है ।

रसाभास, भावाभास ।

यदि कोई रस या भाव अनुचित प्रकार से दिखलाया जावे या अधम पात्र में तथा तिर्यक् योनिवाले जीवों में दिखलाया जावे तो रसाभास और भावाभास होता है ।

उ०—भये काम वश योगीश तापस पामरन की को कहै ।
देखत चराचर नारि मय जे ब्रह्ममय देखत रहैं ॥

इसमें शृंगार रस अर्थात् कामवश होना ब्रह्मदर्शी तापसों में दिखलाया गया है और यद्यपि इससे कामदेव की महिमा झलकती है तथापि सामान्य रीति से विषय-त्यागी मुनियों में कामावेश अनुचित है; इसलिए यहाँ पर रसाभास है ।

सब के हृदय मदन अभिलाषा । लता निहारि नवहिं तरु शाखा ।
नदी उमँगि अम्बुधि कहँ धाई । संगम करहिँ तलाव तलाई ॥
पशु पक्षी नभ जल थल चारी । भये काम वश समय बिसारी ।
मदन अन्ध व्याकुल सब लोका । निशि दिन नहिँ अवलोकहिँ कोका ॥

यहाँ पर नीच श्रेणी के जीवों तथा निर्जीव पदार्थों में शृंगार-रस दिखलाया गया है इसलिए रसाभास है ।

क्रोधवंत तब रावण , लीन्हेसि रथ बैठाय ।
चलेउ गगन पथ आतुर , भय वश हाँकि न जाय ॥

प्रथम तो स्थायिभाव क्रोध केवल अनुभाव से (अर्थात् बलात् रथ पर बिठाल लेने से) प्रकट होता है और विभावादिकों से पुष्ट नहीं है; इसलिए भाव हुआ । परन्तु जो था कि अपना प्रेम नहीं

करती उसका और विशेष करके भुवनपति श्रीरामजी की स्त्री का हठ करके हरना अनुचित है; इसलिए यहाँ पर भावाभास है।

भाव शान्ति आदिक।

यदि कहीं पर किसी भाव की शांति हो गई हो अर्थात् वह भाव मिट गया हो तो भावशांति; यदि किसी भाव का उदय हुआ हो तो भावोदय; यदि दो भाव परस्पर मिल गये हों अर्थात् एकही साथ आवें तो भावसन्धि; और यदि कई भाव एक दूसरे के पश्चात् आवें तो भावसबलता होती है। कोई कोई विद्वान् इनकी गणना अलंकारों में करते हैं।

भावशांति—राम विरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवनसुत, आइ गये जिमि पोत॥

इसमें शोक की शान्ति है।

भावोदय—तासु दशा देखी सखिन, पुलकगात जल नयन।
कहु कारण निज हर्ष कर, पूछहिं सब मृदु वयन॥

इसमें राम-विषयक रति का उदय है।

भावसन्धि—प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन युग, जनु विधु मंडल डोल॥

इसमें 'प्रभुहिं चितै' से राम-विषयक रति, तथा 'चितै महि' से लज्जा सूचित है; इन्हीं दोनों की सन्धि है।

काव्य के भेद।

वाच्य ते अतिशय व्यंग्य ध्वनि, उत्तम कविता मानि।
गुणी भूत सोई व्यंग्य है, जहँ अतिशय में हानि॥

अर्थ।

काव्य तीन प्रकार का होता है (१) जिसमें व्यंग्य अर्थात्

व्यञ्जनाजनित अर्थ वाच्य से अर्थात् अभिधाजनित अर्थ से अधिक अतिशयवान् होता है । इसे ध्वनि कहते हैं और यह उत्तम कविता मानी गई है ।

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली । अस कहि मन बिहँसी इक आली ।

(२) जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अतिशयवान् नहीं होता उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं और यह मध्यम कविता मानी गई है ।

(३) जिसमें व्यञ्जना नहीं होती और केवल शब्दचित्र ही होता है वह अधम काव्य है ।

काव्यविचित्रता और चमत्कार प्रायः व्यंग्यार्थ ही पर निर्भर है; और काव्य का जीवन रूप रस तभी हो सकता है जब कोई चमत्कृति विशेष हो । जहाँ कोई चमत्कार-कारक उक्ति-युक्ति होती है वहाँ ही अलङ्कार विशेष होते हैं; अन्यथा नहीं होते ।

प्रथम दोनों प्रकार के काव्यों के सहस्रों भेद पण्डितों ने कहे हैं परन्तु स्थानाभाव तथा भाषा-काव्य के अधिक उपयोगी न होने के कारण यहाँ नहीं कहे गये ।

कहा गया है कि काव्य का आत्मा रूप रस है और उसका उत्कर्ष अलङ्कारों, गुणों, और रीतियों से बढ़ता है और अपकर्ष दोषों से होता है । विस्तृतत्व के कारण अलङ्कार अन्त में कहे जायँगे और कविगणगणनाग्रगण्य भगवद्भक्तशिरोमणि श्रीतुलसीदासजी महाराज की अनुपम तथा कोटि मुख-सराहनीय "सखर सकोमल मञ्जु दोष रहित दूषण सहित" काव्य में यदि कोई कविता मात्र ही में विदग्ध पुरुष अपनी प्रतिभा से कोई काव्य-दोष भी ढूँढ़े तो भी मैं उसका विचार करना व्यर्थ समझता हूँ; क्योंकि 'नीर-क्षीर-विवेके हंसाल-

स्यन्त्वमेव तनुषे चेत्। विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतम्पालयिष्यति कः। गहि गुण पय तजि अवगुण वारी। निज यश जगत कीन्ह उजियारी' के आधार पर गुणान्वेषण ही अपना परम कर्तव्य है।

गुण।

मधुरिम ओज प्रसाद यह, काव्य के गुण पहिचान।

अर्थ।

काव्य में तीन गुण होते हैं। (१) मधुरिमा वा माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद।

(१) माधुर्य उस गुण का नाम है जो अपनी मधुरता से चित्त को आह्लादित तथा आर्द्र कर देता है; और वह शृंगार-रस, करुण-रस, तथा शान्त-रस में युक्त होता है। उसके उपयोगी अक्षर ये हैं—कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के अक्षर अपने वर्ग के अन्तवाले अक्षरों से मिले हुए, दो ह्रस्व वर्णों के बीचवाले र, और ण, समास का न होना या छोटे समास का होना आदि।

उ०--कंकण किंकिणि नूपुर ध्वनि सुनि। कहत लषण सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही॥
× × × × ×
भये विलोचन चारु अचञ्चल। मनहुं सकुचि निमि तजेउ दृगंचल॥
× × × × ×

उ०—श्री रघुबीर प्रताप ते, सिन्धु तरे पाषाण।
ते मति मंद जे राम तजि, भजहिं जाय प्रभु आन॥

(२) ओज उस गुण का नाम है जो अपने प्रभाव से श्रोता के चित्त को दीप्त सा और विस्तृत सा कर देता है; और वह वीररस बीभत्सरस, और रौद्ररस आदि में युक्त होता है। उसके व्यञ्जक

ये हैं—सब वर्गों के प्रथम, द्वितीय अक्षरों का संयोग, और तृतीय चतुर्थ अक्षरों का संयोग, या किसी अक्षर का उसी के साथ संयोग, र, ट ठ ड ढ, श ष, बड़े बड़े समास और विकट रचना ।

उ०—भये क्रुध युद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोण सायक कसमसे ।
कोदण्ड धुनि सुनि चण्ड अति मनुजादि भय मारुत ग्रसे ॥
मन्दोदरी उर कम्प कंपित कमठ भूधर अति त्रसे ।
चिक्करहिं दिग्गज दशन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे ॥

(३) प्रसाद उस गुण का नाम है जिसके सुनने मात्र ही से काव्य के अर्थ का निश्चय हो जाता है और जो कि चित्त में शीघ्र ही इस भाँति व्याप्त सा हो जाता है जैसे सूखे ईंधन में अग्नि, अथवा ढालू स्थान में जल । यह सब रसों में तथा सब प्रकार की रचनाओं में प्रयुक्त होता है; अर्थ की सरलता ही इसका विशेष लक्षण है ।

उ०—अवध पुरी अति रुचिर बनाई । देवन सुमन वृष्टि झरि लाई ।
राम कहा सेवकन्ह बुलाई । प्रथम सखन अन्हवावहु जाई ॥
सुनत बचन जन जहँ तहँ धाये । सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये ।

कतिपय आचार्यों के अनुसार गुण दस होते हैं परन्तु वे सब किसी न किसी प्रकार इन्हीं तीन के अन्तर्गत हैं ।

रीति ।

जैसे शरीर के अंगों के संस्थान से (किसी विशेष प्रकार एक दूसरे से संयोजित होने से) आत्मा का उपकार होता है इसी प्रकार काव्य में पदों की संघटना से आत्मरूप रस का उपकार होता है । इस संघटना का नाम रीति है । रीतियाँ तीन हैं (१) उपनागरिका या वैदर्भी । (२) परुषा या गौडी । (३) कोमला या

पांचाली। किसी किसी के अनुसार लाटी नामक एक चौथी भी रीति होती है। भिन्न आचार्यों के अनुसार बहुधा कुछ भिन्न भिन्न लक्षण इन रीतियों के हैं। यहाँ पर केवल साधारण लक्षण लिखे जाते हैं।

(१) उपनागरिका या वैदर्भी रीति वह है जिसमें माधुर्य गुण-सूचक लक्षण हों और ललित रचना हो।

(२) परुषा या गौडी रीति वह है जिसमें ओज-गुण-प्रकाशक लक्षण हों।

(३) कोमला या पांचाली रीति वह है जिसमें माधुर्य तथा ओज-गुण-सूचक वर्णों के अतिरिक्त और वर्ण हों और वाक्य में अधिक पद न हों।

(४) लाटी रीति में वैदर्भी और पांचाली के बीच वाले लक्षण होते हैं।

माधुर्यादि गुणों के उदाहरण देखकर इन रीतियों के भी उदाहरण मिल सकते हैं। इसीलिए पृथक् करके नहीं लिखे गये।

रसवदादि अलंकार।

रस अरु भाव जहँ अंग है, तहँ रसवत अरु प्रेय।
भाव शांति की अंगता, नाम समाहित देय॥
रसाभास जहँ अन्यहिं, अथवा भावाभास।
अंग रूप से पोषै, तहँ ऊर्जस्वि प्रकाश॥

रस, भाव, आदि के लक्षण तथा उदाहरण उन विषयों में कहे गये हैं और यह भी कहा गया है कि कभी कभी अप्रधान वस्तु भी विवाह प्रवृत्त राजभृत्यवत् प्रधान हो जाती है; ऐसी दशा में

अन्य वस्तु उसका अंग हो जाती है अर्थात् उसे पुष्ट करके प्रधान बनाती है। इस प्रकार यदि किसी स्थल में रस अंग हो अर्थात् किसी दूसरे रस को या भाव आदि को अपने द्वारा पुष्ट करता हो तो रसवत् अलंकार होता है। इसी भाँति यदि भाव किसी दूसरे का अंग हो तो प्रेय अलंकार होता है। यदि भाव शांति किसी का अंग हो तो समाहितालंकार होता है । यदि रसाभास या भावाभास किसी अन्य को अंग रूप से पुष्ट करता हो तो ऊर्जस्वि नामक अलंकार होता है।

गुण और अलङ्कार ।

जो वस्तु रस के आन्तरिक भाव के उत्कर्ष को बढ़ाती है उसे गुण कहते हैं और जो वस्तु किसी अङ्ग द्वारा उस रस के भाव को बढ़ाती है उसे अलङ्कार कहते हैं। जैसे शौर्य आत्मा का गुण है अर्थात् पुरुष के किसी एक अङ्ग का विचार न करके उसकी आन्तरिक दशा को बतलाता है उसी प्रकार काव्य में गुण से आन्तरिक उत्कर्ष बढ़ता है । जैसे हारादि बाह्य उपकरणों से हृदयादि अंगों की शोभा बढ़ती है और साथ ही साथ इन आभूषणों के धारण करनेवाले पुरुषों का उत्कर्ष बढ़ता है, उसी प्रकार उपमा आदि काव्यालंकारों से काव्य का उपकार होता है।

प्रथम अलंकार दो प्रकार के होते हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार । शब्दालंकार वह है जो स्थान विशेष पर शब्द विशेष के प्रयोग से उत्पन्न होता है अर्थात् यदि वह शब्द निकाल कर उसी के अर्थवाला कोई दूसरा शब्द योजित किया जावे तो अलंकार नहीं रहता और केवल अर्थ मात्र रह जाता है (इसी का नाम परिवृत्य-

कथा ।

कवि ने स्वयं कहा है:—

नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

अर्थात् अनेक पुराणों, वेदों, शास्त्रों, और रामायण में जो कुछ कहा गया है, और कहीं कहीं और भी, अर्थात् अपने पांडित्य से लेकर मैं यह ग्रंथ रचता हूँ ।

साधारणतः रामचरितमानस की कथा अध्यात्म-रामायण से मिलती है । शिव-धनुष टूटने के पीछे ही परशुरामजी का आना वाल्मीकीय रामायण के प्रतिकूल है । लक्ष्मणजी और परशुरामजी का संवाद श्रीजयदेव-रचित 'प्रसन्नराघव नाटक' में उसी तरह मिलता है । किष्किन्धा-कांड का वर्षा-वर्णन श्रीमद्भागवत-पुराण से मिलता है । अंगद और रावण का संवाद 'दूतांगद नाटक' में मिलता है । कहीं कहीं पर भाव इतना मिलता है कि देखने ही से ज्ञात हो जाता है । उत्तर-कांड में--

"कुलिशहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित खगेश रघुनाथ अस, समुझि परै कहु काहि ॥"

इसके अनुरूप श्लोक भवभूतिकृत 'उत्तर-रामचरित' में है ।

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥"

परन्तु इतना करने पर भी गोसाईं जी ने अपने को अपयश से बचाया है ;

"कविरनुहरतिच्छायामर्थं कुकविः पदं तथा चौरः ।
अखिलप्रबंधहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यम् ॥"

अर्थात् अच्छा कवि किसी दूसरे कवि के विचारों की छाया या समानता मात्र ले लेता है, बुरा कवि संपूर्ण अर्थ को ले लेता है, चोर शब्दों को ले लेता है, और जो कोई पूरा प्रबन्ध लेकर कहे कि यह मेरा बनाया हुआ है, वह चोर से भी अधिक साहसी है। गोस्वामीजी ने दूसरे कवियों के विचार लेकर और उन्हें छील छाल कर इस प्रकार बिठा दिया है कि संधि नहीं दिखलाई देती। इससे उनकी कवित्व-शक्ति झलकती है और उनके सब शास्त्र पढ़ने का पूरा परिचय मिलता है।

रामचरितमानस का पांडित्य ।

भक्ति-पक्ष को प्रधान रख कर भी कोई शास्त्र ऐसा नहीं है जिसके रत्न इस ग्रंथ में न पिरोये गये हों। वेदांत, सांख्य, योग आदि के विषय उत्तमता के साथ रक्खे गये हैं; पौराणिक कथाओं के इशारे स्थान स्थान पर हैं, और लौकिक रीतियों तथा कहावतों की भी कमी नहीं है। जैसे संस्कृत में माघकृत 'शिशुपालवध काव्य' के लिए कहा गया है कि

> "दंडिनः पदलालित्यं भारवेरर्थगौरवम् ।
> उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥"

उसी प्रकार भाषा-ग्रंथों में रामचरितमानस के लिए भी यह बात सत्य है। इसमें महाकाव्य के सब लक्षण ऋतु-वर्णन, समुद्र-वर्णन, पर्वत-वर्णन, सूर्य्य-चन्द्रोदय-वर्णन आदि वर्त्तमान हैं। संस्कृत काव्य की नियत बातें उसी प्रकार रक्खी गई हैं—त्रिविध बयारी (शीतल, मंद, सुगंध), त्रिविध ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक दुःख), यश का श्वेत वर्ण, अयश का कृष्ण वर्ण, १६ शृंगार, ६४ कला आदि।

एक विशेष और श्लाघ्य गुण इस ग्रंथ का यह है कि चित्त की महीन से महीन गतियाँ भी दिखलाई गई हैं। हर्ष, शोक, चिंता आदि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि पढ़ते ही सहृदय लोगों का जी फड़क उठता है। जिस समय श्रीरामजी धनुष उठाने को उद्यत हुए, उस समय सीता जी के मन की तरंगें कैसी रीति से वर्णित हैं—

"तब रामहिँ बिलोकि वैदेही। सभय हृदय विनवति जेहि तेही।"

अति चिंता के समय किसी एक ही देवता की कृपा पर प्रतीति नहीं होती, इसी लिए 'जेहि तेही' शब्द कहे; और आगे चलकर 'महेश, भवानी, गणनायक, सुर' आदि की विनती कही। इसी चिंता के समय 'भरे विलोचन प्रेमजल' भी थे, पर किसी प्रकार धैर्य्य नहीं होता था और 'पितु प्रण सुमिरि बहुरि मन छोभा' था। केवल जनकजी ही पर अश्रद्धा नहीं, बरन् 'बुध समाज' पर भी 'सिख न देने' का दोषारोपण था। 'कुलिश कठोर धनु' और 'श्यामल मृदुगात किशोर' की विषमता हृदय से दूर नहीं होती थी। 'प्रभुहिँ चितै पुनि चितव महि' से प्रेम और लज्जा की लहरें चढ़ती उतरती ज्ञात होती हैं। मुख में आ कर भी बात लज्जा के कारण रुक जाती है—

"गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रकट न लाज निशा अवलोकी।"

अंत में अपने सच्चे और दृढ़ प्रेम ही पर विश्वास हुआ—

"तन मन बचन मोर प्रण साँचा। रघुपति पद सरोज मन राँचा।
तौ भगवान सकल उर वासी। करिहहिँ मोहिँ रघुपति की दासी।।"

संस्कृत ।

गोसाईंजी के सब शास्त्रों के मत को, उनके अगाध विचारों

को, उनके साहित्य को, उनके शब्दों को, और उनके पांडित्य को देखकर यह कोई भी नहीं कह सकता कि उनमें संस्कृत विद्या की कोई त्रुटि थी; परन्तु हाँ कई एक विद्वानों का विचार है कि उनको संस्कृत-कविता का अभ्यास कम था जिससे कि उन्होंने संस्कृत-वन्दना में 'अतुलितबलधामम्', और 'केकीकण्ठाभनीलम्' आदि पद लिखे। अस्तु, उनके समय में भी संस्कृत-ग्रन्थों की इतनी भरमार थी कि उन्होंने नये संस्कृत ग्रन्थ का बनाना अयोग्य समझा। 'स्वान्तःसुखाय' अर्थात् अपने अन्तःकरण के सुख के अलावा उनका दूसरा, और प्रायः मुख्य, प्रयोजन यह था कि संस्कृत न जाननेवाले लोग भी रामजी की महिमा भाषा में पढ़ सकें। उन्होंने अपनी तीव्र बुद्धि से देख लिया था कि धर्म के ह्रास का परम कारण भाषा-ग्रन्थों का न होना ही था; क्योंकि सहस्रों मनुष्यों में यदि एक मनुष्य संस्कृतज्ञ पंडित हुआ भी तो वह किस प्रकार औरों का उद्धार कर सकता था। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने यह ग्रन्थ रचा, और यद्यपि उनको कट्टर पंडितों की ओर से बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, तथापि भाषाप्रेमी जन उनके बिन दामों के चेरे हो गये। अंत में इस परम भक्तिमय, धर्ममय, चातुर्यमय काव्य-रत्न को देखकर पंडितों को शिर झुकाना पड़ा।

जब कि हमारे महाकवि ने संस्कृत लिखने का विचार ही छोड़ दिया तो उनको उसका अभ्यास कैसे होता? संभव है कि व्याकरण की क्षतिवाले श्लोक क्षेपक हों, या यथार्थ पाठ कुछ और रहा हो, या शाब्द ब्रह्म के प्रेमी उनका समर्थन और किसी प्रकार करके शुद्ध दिखला दें, या हम उन्हें महाकवि के प्रयोग मानकर छोड़ दें।

तुलसीदासजी ने अधिक प्रयोग संस्कृत शब्दों ही का किया है, पर फ़ारसी व अरबी आदि भाषाओं के भी शब्द 'लायक़, ग़रीब निवाज़' आदि जो साधारण बोलचाल में प्रचलित हैं, रक्खे गये हैं। देश के भिन्न भिन्न भागों के बहुत से शब्द आये हैं, और और कवियों की तरह गोसाइँ जी ने भी कहीं कहीं शब्दों को तोड़ मरोड़ कर बिठाल दिया है।

कथा में भेद।

कथा में जो किसी स्थल पर कोई भेद है उसका कारण कवि ने स्वयं लिख दिया है—

"नाना भाँति राम अवतारा। रामायण शत कोटि अपारा।
कल्प भेद हरि चरित सोहाए। भाँति अनेक मुनीशन गाए॥
करिय न संशय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥"

आदर्श वस्तु और रस।

रामचरितमानस में गोसाईंजी ने श्रीरघुनाथयश तो गाया ही है, पर साहित्य-रत्नों, लौकिक-नीतियों, और आदर्शरूप वस्तुओं का भंडार भी भर दिया है—

"कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीना। सकल कला सब विद्याहीना।
आखर अर्थ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिँ मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

वाह विनीत भाव! कि सब कुछ दिखला देने पर भी इन्कारी!

जो बात श्रीमद्भागवत में कही गई है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

उसी को तुलसीदासजी ने अपनी चौपाई में कहा है और उसे सत्य करके दिखा दिया है। भक्ति की अमोघ धारा बहा दी है, यहाँ तक कि मनुष्यों की तो क्या कथा है, 'सुमिरि सो दशा मगन गौरीशा' पढ़ते ही रोमांच, गद्गद स्वर, अश्रुपात प्रकट हो जाते हैं।

रामचन्द्र का वनवास, दशरथजी का शोक, सीता-हरण, लक्ष्मणजी की मूर्छा आदि करुणा रस के दृश्य ऐसे दिखाये हैं कि मनुष्य का क्या, पत्थर का भी हृदय विदीर्ण हो जाता है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। शृंगार रस का अवकाश बहुत नहीं मिला, क्योंकि सीताजी जगज्जननी हैं और उनका शृङ्गार-वर्णन अनुचित है—

"सिय शोभा नहिँ जाय बखानी। जगदम्बिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सीय वरणि तेहि उपमा देई। को कवि कहै अयश को लेई॥"

तथापि जितना अवकाश मिला है उसको कवि ने ऐसी उत्तम तथा कभी कभी गुप्त रीति से सँभाला है कि पढ़ कर मन आनन्द-समुद्र में मग्न हो जाता है—

"खंजन शुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद कली दाडिम दामिनी। शरद कमल शशि अहिभामिनी॥
वरुण पाश मनोज धनु हंसा। गज केहरि निजसुनत प्रशंसा।
श्रीफल कमल कदलि हर्षाहीँ। नेकु न शंक सकुच मन माहीँ॥
सुन जानकी तोहिँ बिन आजू। हर्षे सकल पाइ जनु राजू।"

विचार कर देखिए कि कैसी गूढ़ रीति से शृंगार रस को परा सीमा तक पहुँचा दिया है और कैसी भाव की गंभीरता रक्खी है।

युद्ध वर्णन में रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, और अद्भुत रसों

की खानि मिलती है । लचमण-परशुराम-संवाद तथा अंगद-रावण-संवाद में और अन्यत्र भी स्थान स्थान पर हास्य रस की छटा दिखाई गई है । कोई रस तथा भाव और अलंकार ऐसा नहीं जिसे गोसाईंजी ने उत्तम प्रकार से न दिखाया हो । जिस समय जो रस पढ़ने लगो तो यही भान होता है कि संसार उसी रस से बना है ।

कोई लोक-विषय भी ऐसा नहीं है जिस पर के उपदेश राम-चरित मानस में न हों । चारों वर्णों, चारों आश्रमों, स्त्री-पुरुष, राजा प्रजा, मित्र शत्रु, संपत्ति विपत्ति, भला बुरा, जिस बारे में चाहो लौकिक नीतियाँ देख लो—

"जे न मित्र दुख होहिँ दुखारी । तिनहिँ विलोकत पातक भारी ।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपत काल परखिए चारी ॥
सुनहु भरत भावी प्रबल, विलखि कह्यो मुनिनाथ ;
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ॥" आदि ।

तुलसीदासजी के पांडित्य, देश-भ्रमण, विधिवत् हर प्रकार की वस्तु देखने, और उत्तम दृश्यों के वर्णन करने की शक्ति का पूरा पूरा परिचय स्थान स्थान पर मिलता है—

"पुर पूरब दिशि गे दोउ भाई । जहँ धनुष मख भूमि बनाई ।
अति विस्तार चारु गच ढारी । विमल वेदिका रुचिर सँवारी ॥
चहुँ दिशि कंचन मंच विशाला । रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ।
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा । अपर मंच मंडली विलासा ॥
कछुक ऊँच सब भाँति सोहाई । बैठहिँ नगर लोग सब आई ।
तिनके निकट विशाल सोहाए । धवल धाम बहु बरन बनाए ॥
जहँ बैठी देखहिँ पुर नारी । यथा योग्य निज कुल अनुहारी ॥"

विचार कर देखो कि इतनी बड़ी सभा का प्रबंध चाहे कितने ही बड़े राजमन्त्री को सौंपा जावे, क्या वह गोसाईं जी के बताये हुए क्रम से अच्छा क्रम स्थापित कर सकता है ? यही नहीं, भीड़ के समय का भी विचार था—

कहि मृदु वचन विनीत तिन, बैठारे नर नारि ।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ॥

राजा जनक के घर में तुलसीदासजी ने अपनी प्रतिभा से जो विवाह-मंडप बनाया है उसकी 'रचना देखि विचित्र अति' यथार्थ में 'मन विरञ्चि के भूल' होती है ।

जो 'नारिधर्म' अनुसूयाजी के मुख से गोसाईंजी ने कहा है क्या उससे अधिक और कोई स्त्रीधर्म आदर्श रूप हो सकता है ?

पात्र ।

जितने पात्र हैं उनका योग्य आचरण, धर्म और व्यवहार कैसा शिक्षाकर है ।

दशरथजी ।

दशरथजी की शिव-भक्ति, वशिष्ठजी में निष्ठा, रानियों पर स्नेह, पुत्रों पर अगाध प्रेम, और अपने वचन का पालन आदर्श रूप हैं ।

कौशल्याजी ।

कौशल्याजी के धैर्य्य तथा धर्म को विचारिए कि राम-वनवास ऐसे कठिन समय में भी, सपत्नी कैकेयी के शत्रुवत् आचरण को देख कर भी, उन्होंने धर्म से मुँह न मोड़ा—

"राखौं सुतहिँ करौं अनुरोधू । धर्म जाय अरु बंधु-विरोधू ।"

सुमित्राजी ।

सुमित्राजी ने लक्ष्मणजी से जो बात कही कि—

"तात तुम्हार राम बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।
जो पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥"

उससे रामजी पर कितना स्नेह टपकता है।

कैकेयी।

कैकेयी पहले रामजी पर बड़ा प्रेम करती थी और उन्हें भरतजी से अधिक मानती थी, परन्तु कहने सुनने से दीवारें भी टल जाती हैं; दुष्टा मंथरा कान लग गई और अनर्थ करा दिया। अंत में उसे भी पश्चात्ताप हुआ था।

लक्ष्मणजी।

लक्ष्मणजी की रामचंद्रजी पर अनन्य भक्ति थी; मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीराम ही को अपना परम इष्ट देव मानते थे। इनमें उत्साह शक्ति इतनी थी कि अवसर पाकर अक्षौहिणियों को भी तृण-समान समझते थे—

"जो राउर अनुशासन पाऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकहुँ मेरु मूलक इव तोरी॥
कमल-नाल इमि चाप चढ़ावौं। शत योजन प्रमाण लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करौं प्रभुपद शपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥"

परशुरामजी से वीर पुरुष के साथ इतनी धृष्टता, अयोध्या से भरतजी के साथ आती हुई सेना देखकर क्रोध, राज्यमद से अंध हो जाने पर सुग्रीव पर रोष आदि वीर कर्म इनकी वीरता के साक्षी हैं। पर इतनी वीरता पर भी 'सैनहिँ रघुपति लषण निवारे' और रामजी के 'नयन तरेरने' मात्र से उन्होंने किस प्रकार क्रोध का परित्याग कर दिया।

भरतजी ।

भरतजी के निष्कपट व्यवहार, गंभीर प्रेम, और अलौकिक स्वभाव को देख कर जब स्वयं श्रीरामजी ने कह दिया कि—

"जो न होत जग जन्म भरत को । सकल धर्मधुर धरणि धरत को ॥"

तो कोई उनकी प्रशंसा कैसे कर सकता है । निष्कंटक राज्य पर लात मार कर, संसार के सुखों को तिलांजलि देकर, विरक्त-रूप से बस्ती के बाहर रहना और—

"जो करणी समुझैं प्रभु मोरी । नहि निस्तार कल्प शत कोरी ॥"

आदि वाक्यों से रामचन्द्रजी की राह जोहना भरत सरीखे ही महापुरुष का काम था ।

शत्रुघ्नजी ।

शत्रुघ्नजी का स्वभाव शांत था । ये सदा भरतजी की आज्ञा बजाते थे । इनके क्रोध का केवल एक ही अवसर वर्णित है जहाँ पर इन्होंने कुबरी को

"हुमुकि लात तकि कूबर मारा । परि मुँह भरि महि करत पुकारा ॥"

सुग्रीव और विभीषण ।

सुग्रीव और विभीषण केवल राजनीति-संबन्धी ही मित्र नहीं थे, किन्तु रामजी के भक्त भी थे । विभीषण 'जिमि दशनन महँ जीभ विचारी' लंका पुरी में रह कर भी रामजी की भक्ति में तत्पर थे । इन दोनों को रघुनाथजी ने किष्किंधा एवं लंका का राज्य देकर अपनी कृपा का फल दिखा दिया ।

अंगद ।

अंगद रामजी के पूरे सेवक थे । रावण की भरी सभा में पाँव

रोपने व धृष्टता से संवाद करने से इनका वीरत्व प्रकट है। रामजी के बिदा करने पर भी।

"नीच टहल गृह की सब करिहैं। पद बिलोकि भवसागर तरिहैं॥"

आदि वचन कह कर सेवा ही में रहना चाहते थे। जैसे रघुनाथजी ने इनको अभय-बाँह दी थी वैसे यह भी अपने पिता के वैर-निर्यातन का विचार स्वप्न में भी नहीं करते थे।

निषाद।

निषाद नीच पात्र होने पर भी रामजी को प्रिय था—"तुम मम सखा भरत सम भ्राता"। अपने बलानुसार इसने जो सहायता श्रीरामजी को दी थी वह सराहनीय है।

हनूमान्‌जी।

हनूमान्‌जी वीरता, भक्ति और चातुर्य की मूर्त्ति थे। समुद्र लाँघ कर लंका को फूँकना, लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर पर्वत का लाना, लड़ाई में अपूर्व साहस दिखाना, राम-सुग्रीव से मित्रता कराना, निष्कपट व निष्कारण सेवकभाव, निरभिमानता आदि इनके एक एक गुण सहस्र सहस्र जिह्वाओं से प्रशंसनीय हैं। इनकी भक्ति में स्वार्थ का लेशमात्र नहीं है, और रघुनाथजी ने प्रसन्न होकर मान लिया है कि

"सुनु कपि तोहिँ समान उपकारी। नहिँ कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥"

प्रतिनायक रावण और उसका परिवार।

प्रतिनायक रावण और उसका परिवार साधारण शत्रु नहीं।

"उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती। शिव विरंचि पूजे बहु भाँती।
वर पायउ कीन्हेउ सब काजा। जीतेउ लोकपाल सुर राजा॥"

रावण के बल-पराक्रम, उद्योग और दृढ़ता की जितनी ही

महिमा कही जावे उतना ही प्रताप श्रीरघुनाथजी का झलकता है। बहुत से राक्षस वीर सीताहरण के विरुद्ध होने पर भी अपने स्वामी के लिए अत्यन्त वीरता से लड़े। परन्तु काल की गति बड़ी दुस्तर है और गर्व का शिर नीचा। उसके दुराचरण को देख रघुनाथजी ने अवतार लिया और उसे मार पृथ्वी का भार उतारा।

श्रीरामचन्द्र और सीताजी।

श्रीरामचन्द्र और सीताजी रामचरितमानस के नायक और नायिका हैं। श्रीरामजी धीरोदात्त नायक हैं जिसका लक्षण यह है—

"अति गभीर अविकत्थन, क्षमावान अति सत्व।
थिर दृढ़व्रत विनयी सदा, धीरोदात्त को तत्व॥"

अर्थात् जिसके मन का अभिप्राय किसी पर विदित न हो, जो अपने कर्मों की प्रशंसा अपने मुँह न करे, किसी से अपराध होने पर उसे क्षमा करदे, जिसका स्वभाव हर्ष शोकादि से क्षुब्ध न हो, जो काम में धैर्य रक्खे, जो अपनी कही हुई बात को पूरी कर दिखावे और जिसका गर्व नम्रता से ढका रहे, ऐसे नायक को धीरोदात्त नायक कहते हैं।

श्रीरामजी को मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं, अर्थात् जो जो काम उन्होंने किये वे सब परम शिक्षाप्रद और आदर्श रूप हैं—

"जिनके चरण सरोरुह लागी। करत विविध जप योग विरागी॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते॥"

इतने बड़े राजपुत्रों व पतितपावन विष्णु के लिए मुनि का पादसंवाहन कितनी बड़ी धर्ममर्यादा को स्थापित करता है। धनुषभंग, सीताजी से विवाह, यौवराज्याभिषेक, रावणवध, राज्यप्राप्ति आदि सुख की सीमाओं में; परशुरामजी का कोप, वनवास, दशरथ-

मरण, सीताहरण, लक्ष्मणजी की मूर्छा आदि दुःख की सीमाओं में भी श्रीरामजी के चित्त में कोई अलौकिक क्षोभ नहीं हुआ। हाँ, केवल मर्यादापालनार्थ उन्होंने लोक को मनुष्यों की गति दिखाई। सीताहरण के पश्चात् स्थावर जंगम से उनका पता पूछना प्रकट करता है कि स्त्रीसंगियों की यही दशा होती है, 'स्त्रीसंगिनां गतिरिति प्रथयंश्चचार'। अभिमान का तो लेश नहीं था, देखो परशुरामजी से कैसे वचन कहते हैं।

"नाथ शंभु धनु भंजन हारा। होइहि कोउ यक दास तुम्हारा॥"

परन्तु स्थल स्थल पर अपने क्रोध का भी आविर्भाव कर दिया है—

निशिचर हीन करौं मही, भुज उठाय पण कीन॥"
"सीता हरण तात जनि, कहहु पिता सन जाय।
जो मैं राम तौ कुल सहित, कहहि दशानन आय॥"

"लक्ष्मण बाण शरासन आनू। सोखौं वारिधि विशिख कृशानू॥"

भाइयों पर जो प्रेम था उसकी कुछ थाह लक्ष्मणजी के मूर्छित होने पर श्रीरामजी के शोक से मिलती है। शरणागतवत्सलता अपने श्रीमुख से प्रकट कर दी है—

"जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय शरण तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥"

सर्वशक्तिमान् होने पर भी कृतज्ञता इतनी थी कि वानरों से कहते हैं—

"तुम अति कीन्ह मोरि सेवकाई। मुख पर केहि विधि करौं बड़ाई।
ताते मोहिँ तुम अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥
अनुज राज संपति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही।
सब मोहिँ प्रिय नहिँ तुमहिँ समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥"

राजनीतिपरायणता इसी से प्रकट है कि दो भाइयों ने मिलकर इतनी सेना इकट्ठी कर ली और रावणवध सा कठिन काम कर लिया। इनके राज्य में प्रजा को जो सुख हुआ उसका वर्णन उत्तर-कांड में है।

श्रीरामजी स्त्री-विषय में अनुकूल नायक थे अर्थात् एक-स्त्री-व्रत थे, और उनका एवं श्रीजानकीजी का परस्पर प्रेम अगाध था। जानकीजी स्वयं कहती हैं—

"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिँ तरणि ते ताते।
तनु धन धाम धरणि पुरराजू। पतिविहीन सब शोक समाजू॥"

सीताजी के सच्चे पातिव्रत धर्म का फल यह है कि भस्म हो जाने पर साक्षात् अग्नि ने लाकर रामजी को सौंप दिया।

इस प्रकार श्रीमर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने धर्म का सेतु बाँध कर अपनी अविचल कीर्त्ति स्थापित कर दी।

यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः सम्प्रार्थितश्चिन्मयः
संजातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्त्तिम्पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥

रामचरितमानस की विषमता।

ग्राउस महाशय ने इस पुस्तक का उत्तम अनुवाद अँगरेज़ी में किया है। उन्होंने अपने उपोद्घात में लिखा है कि इस ग्रन्थ की कथा में समता नहीं है, अर्थात् पहले की कथा तो बहुत बड़ी और सविस्तर है पर अंतिम भाग संक्षेप में है। बाल-कांड और अयोध्याकांड ही में पुस्तक का आधे से अधिक भाग

निकल जाता है । कदाचित् इसका कारण यह हो कि गोसाईंजी ने प्रथम दो कांड श्रीअयोध्याजी में अच्छी तरह बनाये हों, पर विरोधियों से तंग आकर किसी प्रकार आरण्यकांड समाप्त करके काशीपुरी को चले गये हों और वहाँ पुस्तक के अति विस्तृत करने का विचार छोड़ दिया हो ।

रामचरितमानस के छंद ।

(१) साधारणतः इस ग्रंथ में चौपाई छंद हैं जिसके एक एक चरण में सोलह सोलह मात्राएँ होती हैं । लघु अक्षर की एक मात्रा और गुरु की दो मात्राएँ होती हैं; दीर्घ या बड़ा अक्षर, ए, ऐ, ओ, औ, विसर्ग, अनुस्वार और संयुक्त अक्षर के पहले का अक्षर गुरु होता है । जैसे—

२२   ११   ११   २१   १२२   १११   १२१   १११   ११२२
बंदौं गुरु पद पद्म परागा । सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ।

पर भाषा कविता में कभी कभी संयुक्त अक्षर के पहले का भी अक्षर लघु ही माना जाता है । जैसे—

१२   १२१   १२१   १२२
करौं प्रणाम सप्रेम सुबानी ।

इसके 'प्रेम' शब्द में 'प्र' संयुक्त अक्षर होने पर भी 'स' की एक ही मात्रा मानी गई है और एक ही मात्रा का उच्चारण भी होता है ।

(२) दोहा में ४८ मात्रायें होती हैं; प्रथम और तीसरे चरण में तेरह तेरह और शेष में ग्यारह ग्यारह । जैसे—

१२   १   २११   २१   २१   २११   २१   १२१
यथा सु अंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
२११   २११   २१   ११   २११   २१   १२१
कौतुक देखहिँ शैल वन, भूतल भूरि निधान ॥

(३) सोरठा में भी ४८ मात्रायें होती हैं, पर प्रथम और तीसरे चरण में ग्यारह ग्यारह और शेष में तेरह तेरह ।

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन ॥

रामचरितमानस की प्रधान बातें, श्रीराम-जन्म, धनुष-भंग, विवाह, घोर युद्ध, रावणवध आदि लंबे छंदों में वर्णित हैं, क्योंकि इनसे काव्य की अनुपम शोभा और वर्ण्य विषय की गंभीरता प्रकट होती है ।

(४) इनमें बहुधा हरिगीतिका छंद का प्रयोग है जिसकी एक पंक्ति में २८ मात्रायें होती हैं और १६ के बाद विराम होता है, अर्थात् पढ़नेवाले को कुछ ठहरना पड़ता है । जैसे—

मन जाहि राँचो मिलहि सो बर, सहज सुंदर साँवरो ।

(५) त्रिभंगी छंद की हर एक पंक्ति में ३० मात्रायें होती हैं और १० व १८ के बाद विराम होता है । जैसे—

कह दुहुँ कर जोरी, अस्तुति तोरी, केहि विधि करौं अनंता ।

इनके अतिरिक्त और भी कई तरह के छंद आये हैं, पर इनके कम होने से और इस ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ पर नहीं लिखे जाते ।

सहन है)। जैसे 'मुनिपालक खल शालक बालक' इस वाक्य में 'पालक' 'शालक' 'बालक' शब्द 'लक' पर समाप्त होते हैं और इन सब शब्दों में 'लक' के पूर्व आकार है, इसलिए इन शब्दों में एक प्रकार की समता है। पढ़ते ही एक विशेष आनन्द आ जाता है। यहाँ पर शब्दालंकार है। यदि इन शब्दों के बदले समान अर्थोंवाले और शब्द रख दिये जावें और 'मुनिरक्षक खल नाशन बालक' पढ़ा जावे तो यद्यपि अर्थ वही रहेगा परन्तु शब्दों की समता जाती रहेगी और अलंकार न रहेगा।

अर्थालंकार अर्थ पर निर्भर है अर्थात् यदि अर्थ और युक्ति का परिवर्तन न हो तो शब्द के बदल देने में कोई हानि नहीं होती। जैसे 'प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जिमि राकेश उदय भये तारे' इस वाक्य में श्रीरामचन्द्रजी की समता राकेश से और अन्य नृपों की समता तारों से दिखलाई गई है। यदि राकेश के स्थान में 'पूर्णेन्दु' और तारों के स्थान में 'नक्षत्र' शब्द का प्रयोग किया जावे तो वही अर्थ रहेगा और वही अलंकार। दो प्रकार के अलंकारों का यह मोटा विभेद है।

शब्दालंकार ।

वक्रोक्ति ।

अन्यहि अर्थ लगावै, अन्यार्थक जो उक्ति ।
श्लेष काकु के भेद ते, जान दोय वक्रोक्ति ॥

अर्थ ।

जब वक्ता कोई वाक्य एक अर्थ में कहता है और श्रोता उसका दूसरा अर्थ लगाता है तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। यह

तभी सम्भव है जब शब्दों में श्लेष हो अर्थात् तोड़ मरोड़ कर उन्हीं शब्दों का दूसरा अर्थ लिया जावे; अथवा वाक्यकथन में काकु या ध्वनि विशेष हो, अर्थात् कुछ शब्द धीरे से और कुछ उच्च स्वर से कहे जावें । इसी कारण श्लेष वक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति नामक दो भेद होते हैं ।

उ०—हम कुल घालक सत्य तुम , कुल पालक दशशीश ।
अंधउ बधिर न कहहिं अस , श्रवण नयन तव बीश ॥
कह कपि धर्म शीलता तोरी । हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी ।

अनुप्रास ।

अनुप्रास तहँ जानिये, जहँ हों वर्ण समान ।
आवृति वरण अनेक की, सकृत छेक सो जान ॥
अक्षर समता वार बहु, आवै वृत्यनुप्रास ।
आवै वार अनेक जहँ, शब्द लाट अनुप्रास ॥

अर्थ ।

जब किसी वाक्य में समान व्यञ्जन कई बार आवें तो अनुप्रासालंकार होता है । इसके दो भेद हैं, छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास । जब बहुत से व्यंजनों की आवृत्ति एक ही बार होती है तो छेकानुप्रास होता है । और जब एक ही वर्ण की आवृत्ति बार बार होती है तब वृत्यनुप्रास होता है । इसी का एक भेद लाटानुप्रास है जिसमें पूर्ण पूर्ण शब्द अनेक बार आते हैं ।

उदाहरण—छेक—धर्म धुरीण धीर नयनागर । सत्य सनेह शील सुख सागर ।

यहाँ पर 'ध' 'न' 'स' का अनुप्रास है ।

वृत्ति—विरति विवेक विनय विज्ञाना । बोध यथारथ वेद पुराना ।

यहाँ पर 'वि' अनेक बार आया है ।

पुनरुक्तवदाभास ।

दिखै अर्थ पुनरुक्ति सों पुनरुक्तवदाभास ।

अर्थ ।

जिस वाक्य में सम अर्थवाले शब्दों का प्रयोग हो और देखने [आभास] से ऐसा ज्ञात हो कि एक ही अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग हुआ है [पुनरुक्ति हुई है]; परन्तु यथार्थ में उन शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न हो तो पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है ।

उदाहरण—

विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा । सिरस सुमन किमि बेधिहि हीरा ।

यहाँ पर 'विधि' और 'भाँति' समार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु विधि शब्द यथार्थ में ब्रह्मार्थक है ।

यमक ।

न्यारे न्यारे अर्थ पद, इक से यमक प्रकाश ।

अर्थ ।

जिस वाक्य में वही शब्द या शब्द-भाग या पद अनेक बार आवे परन्तु अर्थ न्यारा न्यारा हो वहाँ यमकालंकार होता है ।

उ०—बल प्रताप बीरता बड़ाई । नाक पिनाकहिँ संग सिधाई ।
नाथ साथ साथरी बिछाई । मयन शयन शत सम सुखदाई ।

यहाँ पर 'नाक' 'साथ' 'य न श' शब्दों से यमकालंकार है ।

श्लेष ।

अर्थ भेद सों भिन्न जहँ, एक उचारण रीति ।
भिन्न रूपता गोपित, श्लेष शब्द यह नीति ॥

अर्थ ।

जब किसी वाक्य में किसी ऐसे शब्द वा शब्द-समूह का प्रयोग

हो जिससे दो भिन्न भिन्न अर्थ निकलते हों परन्तु उस शब्द वा शब्द-समूह का उच्चारण दोनों अर्थों में एकसा हो तो शब्द श्लेष होता है ।

उदाहरण—द्विज द्रोही न बचहि मुनि राई । जिमि पंकज वन हिम ऋतु पाई ।

यहाँ द्विज शब्द के दो अर्थ हैं, ब्राह्मण और चन्द्रमा । कमल और चन्द्रमा में द्रोह है क्योंकि रात्रि-समय में कमल बन्द हो जाता है ।

पूरण राम सुप्रेम पियूषा । गुरु अपमान दोष नहिं दूषा ॥

यहाँ पर श्रीरामजी की चन्द्रमा से अधिकता बतलाई गई है । रामपक्ष में गुरु का अर्थ पिता और चन्द्रपक्ष में बृहस्पति । चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री को अपने घर डालकर उनका अपमान किया था ।

इनके अतिरिक्त चित्र-काव्य की भी शब्दालंकार ही में गणना होती है—जैसे खड्ग-बन्ध, मुरज-बन्ध, पद्म-बन्ध इत्यादि । इन सब में अक्षरों के विशेष विन्यास से नाना प्रकार के चित्र बन जाते हैं । परन्तु इनके लिखने से कवित्व-शक्ति का कुछ परिचय नहीं मिलता इसलिए इनके ढूँढ़ने में परिश्रम करना योग्य न समझ कर छोड़ दिया ।

अर्थालंकार ।

अर्थालंकार अनेक हैं जिनमें से बहुतों में किसी न किसी प्रकार समता दिखलाई जाती है । जिस युक्ति विशेष के साथ समता दिखाई जाती है उसी प्रकार का अर्थालंकार हो जाता है । समता दिखलाने के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है एक तो वह

जिसका स्थल विशेष में वर्णन हो रहा है और दूसरी वह जिससे समता दिखलाई जावे। जैसे किसी स्त्री वा पुरुष के नेत्रों का वर्णन हो रहा हो और यह कहा जाय कि उसके नेत्र कमल के समान हैं तो नेत्र तो प्रकरणगत वस्तु है और कमल ऐसी वस्तु है जिसका वर्णन वस्तुतः नहीं हो रहा परन्तु जिसके साथ नेत्र का समान धर्मत्व दिखलाया गया है। इन दो के अतिरिक्त तीसरी वस्तु की भी आवश्यकता है अर्थात् वह गुण जिसमें दोनों पदार्थ समान हों, जैसे नेत्र और कमल में दीर्घ आकृति, अरुण वर्ण, और कोमलता समान हैं। चौथी वस्तु समता का चिह्न है अर्थात् ऐसा शब्द जो उस साधर्म्य को प्रकट करे; जैसे जिमि, यथा आदि शब्द।

जिस वस्तु का वर्णन हो रहा हो उसे उपमेय कहते हैं और जिससे उसका समान-धर्म दिखलाया जावे उसे उपमान कहते हैं। जिस गुण में दोनों समान हों उसे साधारण धर्म कहते हैं। नेत्र उपमेय हैं, कमल उपमान है, और दैर्घ्य, अरुणिमा और कोमलत्व साधारण धर्म हैं।

उपमा।

भेदवान द्वय वस्तु में, जहँ यक धर्म बखान।
अलंकार उपमा सोई, पूर्णा लुप्ता जान॥
उपमानरु उपमेय द्वय, उपमा शब्द औ धर्म।
पूर्णा में सब प्रकट हैं, लुप्ता में कछु मर्म॥

अर्थ।

जब दो भिन्न पदार्थों में अर्थात् उपमेय और उपमान में कोई समान धर्म बतलाया जावे तो उपमालंकार होता है।

उ०—रामहिं लषण विलोकत कैसे । शशिहि चकोर किशोरक जैसे ॥

यहाँ पर राम और शशि भिन्न हैं परन्तु दोनों की कांति समान है। कैसे, और जैसे शब्द उपमावाचक हैं। राम उपमेय, और शशि उपमान। इसी प्रकार लषण उपमेय और चकोर किशोरक उपमान और दोनों की उत्सुकता समान धर्म है।

उपमा दो प्रकार की होती है—पूर्णा और लुप्ता। यदि उपमा-संबन्धी चारों वस्तुएँ अर्थात् उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमा प्रतिपादक शब्द प्रकट हों तो पूर्णा और यदि इनमें से कोई गुप्त हों तो लुप्ता उपमा होती है।

उ०—राम लषण सीता सहित, सोहत पर्ण निकेत ।
जिमि बस वासव अमर सुर, शची जयंत समेत ॥

राम, सीता, और लक्ष्मण उपमेय; इन्द्र, शची और जयंत उपमान; सोहत समान धर्म; और जिमि उपमा चिह्न है। इसलिए पूर्णोपमा है।

मालोपमा ।

जब एक ही उपमेय की समता अनेक उपमानों से दी जाती है तो वहाँ पर मालोपमा अलंकार होता है। उदाहरण—

वैनतेय बलि जिमि चह कागा । जिमि ससि चहहिं नाग अरि भागा ।
जिमि चह कुशल अकारण कोही । सुख सम्पदा चहहि शिव द्रोही ॥
लोभी लोलुप कीरति चहई । अकलंकता कि कामी लहई ।
हरि पद विमुख परम गति चाहा । तस तुम्हार लालच नरनाहा ॥

अथवा—हिमवंत जिमि गिरिजा महेशहिं हरिहिं श्री सागर दई ।
तिमि जनक रामहिं सिय समर्पी विश्वकल कीरति नई ॥

अनन्वय।

एक वाक्य में वस्तु यक, उपमेय रु उपमान।
अन्य उपमान अभाव जहँ, तहाँ अनन्वय जान॥

अर्थ।

जब किसी उपमेय में कोई ऐसा विशेष गुण हो कि उसके समान किसी अन्य वस्तु में न मिल सके तो उस वस्तु की समता उसी के साथ दी जाती है अर्थात् वही एक वस्तु उपमेय और उपमान दोनों का काम देती है। इसका नाम अनन्वयालंकार है।

उदाहरण—निरवधि गुण निरवधि पुरुष, भरत भरत सम जानि।
कहिय सुमेरु सुमेरु सम, कवि कुल मति सकुचानि॥

अथवा—स्वामि गुसाइहि सदश गुसाईं। मोहिं समान मैं स्वामि दोहाई।

उत्प्रेक्षा।

और वस्तु को और में, सम्भावन जहँ होय।
वस्तु हेतु फल मय त्रिविध, उत्प्रेक्षा है सोय॥

अर्थ

एक वस्तु में अर्थात् उपमेय में दूसरी वस्तु अर्थात् उपमान की सम्भावना जहाँ पर होती है उसे उत्प्रेक्षालंकार कहते हैं।

उपमा में दो वस्तुओं की समानता वस्तुतः दिखलाई जाती है परन्तु उत्प्रेक्षा में केवल उस समानता का सम्भव संशय रूप से कहा जाता है; मानहु, जनु, इव, जैसे आदि उत्प्रेक्षा के लक्षण हैं।

उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की है, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, और फलोत्प्रेक्षा। इनके लक्षण उदाहरणों से निश्चित होंगे।

वस्तूत्प्रेक्षा।

कंकण किंकिणि नूपुर ध्वनि सुनि। कहत लषण सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्हीं॥

यहाँ पर जानकीजी के आभूषणध्वनिरूपी वस्तु का सम्भव अर्थात् संशय मदन दुन्दुभी ध्वनि रूपी वस्तु से किया गया है। इसी प्रकार—

लता भवन ते प्रकट भे, त्यहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु युग विमल विधु, जलद पटल बिलगाइ॥

इसमें भी वस्तूत्प्रेक्षा है।

फलोत्प्रेक्षा।

मंगलमय कल्याणमय, अभिमत फल दातार।
जनु सब साँचे होन हित, भये शकुन इक बार॥

यहाँ पर सब शकुनों का सत्य होना फल है जिसकी सम्भावना की गई है।

हेतूत्प्रेक्षा।

सुभग सकल सुठि चंचल करणी। अय जिमि जरत धरत पगु धरणी।

यहाँ पर घोड़ों की चंचल चाल का हेतु धरणी का लोहवत् तप्त होना सम्भावित है। इसी प्रकार—

राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा।

इसमें हेतूत्प्रेक्षा है।

कहीं कहीं पर उत्प्रेक्षा के सम्पूर्ण चिह्न लुप्त होते हैं और केवल भाव ही से अलंकार जाना जाता है—इसे लुप्तोत्प्रेक्षा कहते हैं—

यथा—राम सीय सिर सिन्दुर देहीं। सोभा कहि न जात बिधि केहीं।
अरुण पराग जलज भरि नीके। शशिहि भूषि अहि लोभ अमीके॥
होहि सनाथ जन्म फल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई।

यहां पर अरुण पराग से चन्द्रमा का पूजन और लोगों का रामजी के साथ अपना मन भेज देना उत्प्रेक्षित है।

ससन्देह।

समता ते जहँ प्रकृत में, संशय अन्य को होय।
भेद की उक्ति अनुक्ति सों, द्विविध संदेह है सोय॥

प्रकृत अर्थात् उपमेय में जब अन्य अर्थात् उपमान का संशय किसी गुण में दोनों के समान दिखाई देने के कारण किया जाता है तब ससन्देहालंकार होता है। कभी तो संदेह के पश्चात् उपमेय और उपमान का भेद बतलाकर निश्चय कर लिया जाता है और कभी भेद नहीं बताया जाता।

भेदोक्ति यथा—

बिष्णु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट वेष मुख पञ्च पुरारी।
अपर देव अस को जग आही। यह छवि सखि पटतरिये जाही॥
यथा वा—कहहि सप्रेम एक इक पाहीं। राम लखण सखि होहि कि नाहीं।
बय बपु वर्ण रूप सोई आली। शील सनेह सरिस सम चाली॥

वेष न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा।
नहिं प्रसन्न मुख मानस देखा। सखि सन्देह होत यहि भेदा॥

पहले उदाहरण में रामचन्द्र का भेद विष्णु, ब्रह्मा, शिव, तथा अन्य देवताओं से किया गया है और द्वितीय में भरत शत्रुघ्न का भेद राम और लक्ष्मण से।

भेदानुक्ति यथा—

की तुम तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायण की तुम दोऊ।
जग कारण तारण भवहि, भंजन धरणी भार।
कै तुम अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज अवतार॥

इसमें भेद की अनुक्ति से संशय मात्र दिखलाया गया है।

रूपक।

भेदयुक्त द्वय वस्तु को, जो अभेद कहि जात।
रूपक सोइ पारम्परित, सांग निरंग कहात॥

अर्थ

जब दो वस्तु अर्थात् उपमेय और उपमान भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु उनमें कोई भेद नहीं वर्णन किया जाता, अर्थात् उपमेय को उपमान रूप से वर्णन करते हैं तो रूपकालंकार होता है। उपमा और रूपक में यह भेद है कि उपमा में दो वस्तुओं का सादृश्य होता है और रूपक में दोनों की एकरूपता हो जाती है।

जैसे "राम कथा सुन्दर करतारी। संशय विहँग उड़ावन हारी।"

इसमें राम-कथा और करतारी की एकरूपता दिखलाई गई है अर्थात् रामकथा ही करतारी है और जैसे कि सामान्य करतारी

बैठे हुए पत्ती को उड़ा देती है उसी प्रकार यह करतारी संशय पत्ती को उड़ा देती है।

रूपक तीन प्रकार का होता है (१) सांग, (२) निरंग, और (३) परम्परित ।

(१) सांग—जब किसी वस्तु के सब अंग या अवयव वर्णन किये जाते हैं तो सांग रूपक होता है। इसके दो भेद हैं (१) समस्त वस्तु-विषय और (२) एक विदेश-वर्ति । जहाँ पर सब अंगों के उपमेय और उपमान रूपक रूप से दिये जाते हैं उसे समस्त-वस्तु-विषय रूपक कहते हैं। जहाँ पर कुछ अंगों के उपमेय और उपमान वाक्य में दिये रहते हैं और शेष के उपमान बुद्धि से विचार करके जोड़ने पड़ते हैं वहाँ एक-देश-विवर्ति रूपक होता है।

(२) निरंग रूपक में केवल प्रधान वस्तु का रूपक होता है और उसके अङ्गों का नहीं होता।

(३) परम्परित ।

एक रोपिये अन्य हित, परम्परित सो जान।
श्लिष्टांश्लिष्ट विभेद ते, केवल माला मान ॥

अर्थात् अन्य प्रकरण-गत वस्तु या जिस वस्तु का वर्णन हो रहा है उसके आरोपण के लिए अर्थात् उसके रूपक रूप में दिखलाने के लिए यदि किसी अप्रकरण-गत वस्तु का आरोपण किया जावे तो परम्परित रूपक होता है। ऐसे रूपक के शब्दों में या तो श्लेष होगा या न होगा, इस प्रकार परम्परित रूपक दो प्रकार का हुआ। फिर इन दोनों प्रकारों में या तो एक ही एक रूपक होगा

या एक एक के लिए कई कई रूपक होंगे इससे केवल रूपक और माला रूपक दो दो भेद हो जावेंगे ।

उ०—समस्त-वस्तु-विषय रूपक—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज सब, हर्षे लोचन भृंग ॥

नृपन केरि आशा निशि नाशी । वचन नखत अवली न प्रकाशी ।
मानी महिप कुमुद सकुचाने । कपटी भूप उलूक लुकाने ॥
भये विशोक कोक मुनि देवा । वर्षहिं सुमन जनावहिं सेवा ।

एक-देश-विवर्ति रूपक—

नाम पाहरू दिवस निशि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद यंत्रिका, प्राण जाहिं केहि वाट ॥

इसमें नाम, ध्यान और लोचन का रूपण किया गया है परन्तु प्राणों का रूपण कारागृह गत पुरुष के साथ नहीं किया गया ।

निरङ्ग रूपक—

जननी जनक बन्धु सुत दारा । तन, धन, भवन, सुहृद परिवारा ।
सब के ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँधि बटि डोरी ॥

इसमें प्रधान वस्तु अर्थात् सब लोगों की ममता का रूपण ताग से करके अंगों अर्थात् पद (जो बन्धन स्तम्भ के समान है) और मन का (जो जड़ पशु के समान चंचल है) कोई रूपण नहीं किया गया ।

श्लिष्टपरम्परित—जिसमें शब्दों से दोहरा अर्थ निकाल कर रूपक स्थापित किया जाता है—

(१) कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला । शंकर मानस राज मराला ।
(२) अंगद तुही बालि कर बालक । उपजेउ वंश अनल कुल घालक ।

पहले उदाहरण में मानस शब्द पर श्लेष है अर्थात् मानस शब्द के दो अर्थ लिये गये हैं; एक मन और दूसरा मानसरोवर। शंकरजी का मानस (मन) ही मानस (मानस सरोवर) है और उसमें श्रीरघुवीर राजमराल (राजहंस) हैं। जिस प्रकार सरोवर में राजहंस निवास करते हैं उसी प्रकार शंकरजी के मानस में कृपालु रघुवीर निवास करते हैं। यदि रूपक के निर्वाह के लिए दो अर्थ न लिये जावें तो भाव घटित नहीं होता; अर्थात् यदि मानस शब्द का केवल एक अर्थ मन लिया जावे और कहा जावे कि शंकरजी के मन में राजमराल के सदृश श्रीरघुवीर हैं तो संशय उत्पन्न होता है कि राजमराल किसी के मन में नहीं निवास करते वरन सरोवर में रहते हैं। यहाँ पर प्रकरण-गत रघुवीर में राजमरालत्व आरोपण करने के लिए अप्रकरण-गत मन में सरोवर विशेष का आरोपण करना पड़ा और यह प्रयोजन मानस शब्द के दो अर्थों से हुआ इसलिए यहाँ पर श्लिष्ट परंपरित रूपक हुआ।

दूसरे उदाहरण में वंश शब्द श्लिष्ट है अर्थात् बालि का वंश (कुल) ही वंश (बाँस) है और उसके लिए अंगद अनल (अग्नि) है। यहाँ पर कुल और बाँस ये दोनों अर्थ आवश्यक हैं। इसलिए यह श्लिष्ट परंपरित रूपक है। मालोपमा की भाँति माला श्लिष्ट परंपरित रूपक भी होता है।

अश्लिष्ट परम्परित रूपक में शब्दों का केवल एकही अर्थ ग्रहण किया जाता है, परन्तु प्रकरण-गत वस्तु के रूपक के निर्वाह के लिए अप्रकरण-गत वस्तु में दूसरे का आरोपण किया जाता है।

मोह महा वन पटल प्रभंजन। संशय विपिन अनल सुर रंजन।
अगुण सगुण गुण मंदिर सुन्दर। भ्रम तम प्रबल प्रतापदिवाकर।
काम क्रोध मदगज पंचानन। बसहु निरन्तर जन मन कानन।
विषय मनोरथ पुंज कंज वन। प्रबल तुषार उदार पार मन॥
भव बारिधि मन्दर पर मन्दर। वारय तारय संसृति दुस्तर।

श्री रामचन्द्रजी में प्रभञ्जन (वायु) का रूपक निर्वाह करने के लिए मोह में तिमिर पटल का आरोपण किया गया है। इसी प्रकार श्रीरामजी में अनल (अग्नि) का रोपण दिखाने के लिए संशय में विपिन (वन) का रूपक दिखलाया गया है। इसी भाँति सबमें अश्लिष्ट परम्परित रूपक है। केवल दिङ्मात्र दिखलाया गया है।

जब दो वस्तुओं की समता समास-गत होती है तब कभी कभी यह बतलाना कठिन हो जाता है कि उपमा है या रूपक; परन्तु इसका विचार अन्य शब्दों से या प्रकरण से किया जाता है। जैसे—

(१) चरण कमल वन्दौं सब लायक।
(२) शिर धरि गुरु पद पंकज धूरी।

इन दोनों उदाहरणों में चरणों की समता कमल से दी गई है परन्तु भेद यह है कि प्रथम में वन्दना की गई है और कमल की वन्दना नहीं की जाती किन्तु चरणों की की जाती है इसलिए चरण प्रधान शब्द है और केवल उसकी उपमा कमल से दी गई है। द्वितीय में धूलि शिर पर धारण की जाती है और कमल तथा अन्य पुष्पों का पराग शिरोधार्य होता है—इसलिए पंकज शब्द

प्रधान है अर्थात् पद का अभेद पंकज से किया गया है इसलिए रूपकालंकार है ।

रामचरितमानस में रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार अत्यंत अधिक हैं और कवि की अलौकिक कवित्व-शक्ति का परिचय देते हैं ।

बाल-कांड में मानस-वर्णन, लंका-काण्ड में श्रीरामचन्द्र वर्णित रथ, उत्तर-काण्ड में ज्ञान-दीपक आदि बड़े बड़े दीर्घ रूपक हैं ।

बहुत से रूपक उपमा-मिश्रित हैं परन्तु यह दोष नहीं है किन्तु इससे संसृष्टि और संकर आदि अन्य अलंकार उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन आगे होगा ।

अपह्नुति

जहँ निषेधि यक थापिये अन्य अपह्नुति होइ ।

अर्थ—

जिस वाक्य में एक वस्तु अर्थात् उपमेय को असत्य मान कर निषेध कर दें और अन्य अर्थात् उपमान को सत्य मान कर स्थापित करें, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है । यथार्थ में हर स्थान पर उपमेय ही सत्य होता है और उपमान केवल सादृश्य दिखलाने के लिए होता है । परन्तु इस अलंकार में सादृश्य को पक्का करने के लिए इसका विपरीत भाव होता है— यथा—

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला । बन्धु न होय मोर यह काला ।

यहाँ बन्धुत्व का निषेध करके कालत्व का स्थापन किया गया है। इसी प्रकार—

पठै मोह मिसु खगपति तोहीं। रघुबर दीन्ह बड़ाई मोहीं।

इसमें सत्य वस्तु मोह को मिष मात्र माना है और स्वकल्पित बड़ाई में सत्यता दिखलाई है।

श्लेष—

एक वाक्य में अर्थ बहु श्लेष जानिये सोइ॥

अर्थ—

एक अर्थ के देनेवाले शब्दों से यदि उसी वाक्य में अनेक अर्थ निकलें तो श्लेष नामक अर्थालंकार होता है। यद्यपि इसकी गणना आचार्यों ने अर्थालंकारों में भी की है परन्तु इसका प्रधान विषय शब्द ही है।

रावण शिर सरोज वन चारी। चले रघुनाथ शिलीमुख धारी।

यहाँ पर 'शिलीमुख' शब्द के दो अर्थ हैं; (१) बाण, (२) भ्रमर। जैसे कमल-वन में भ्रमर दौड़ कर जाते हैं और कमलों के भीतर घुस पड़ते हैं, उसी प्रकार रघुनाथजी के शिलीमुख (बाण) रावण के शिरों में घुसने लगे।

समासोक्ति—

समासोक्ति तहँ जानिये, अन्य वस्तु व्यवहार।
कार्य लिंग विशेषण, प्रकृत समान विचार॥

अर्थ।

जब किसी वाक्य में श्लिष्ट शब्दों के द्वारा किसी दूसरे व्यवहार का अर्थ निकलता है तो समासोक्ति अलंकार होता है—जैसे

लोचन मगु रामहिं उर आनी । दीन्हें पलक कपाट सयानी ।

इससे किसी चंचल पुरुष के बँधुवा कर लेने का व्यवहार भासित होता है ।

निदर्शना—

उपमा सूचक असंभव, जहँ सम्बन्ध सुजान ।
ताकहँ कहत निदर्शना, वाक्य पदार्थ द्विमान ॥

अर्थ ।

जहाँ दो वस्तुओं अर्थात् उपमेय और उपमान का उपमासूचक सम्बन्ध इस प्रकार दिखलाया जाता है कि बाह्य दृष्टि से वह असम्भवित लगे अर्थात् दोनों वस्तुओं के सादृश्य का कोई चिह्न न दिखलाई दे परन्तु उपमान का धर्म उपमेय में घटित कर दिया जावे तो निदर्शनालंकार होता है । यह दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थ-निदर्शना और पदार्थ-निदर्शना । प्रथम में सम्पूर्ण वाक्य से सादृश्य प्रकट होता है और द्वितीय में एक पद से ।

उदाहरण-(१) पुनि पुनि रामहिं चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न ।
हरति मनोहर मीन छवि, प्रेम पियासे नैन ॥

(२) जे असि भक्ति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥

एक वस्तु अर्थात् सीताजी के नयन अन्य वस्तु अर्थात् मीन-छवि को चुराते हैं, यह असम्भव सा ज्ञात होता है परन्तु इसका तात्पर्य उपमा में पर्यवसित होता है अर्थात् सीता के नेत्रों की समता मीन से है । युक्ति की विचित्रता से अलंकार है ।

दूसरे उदाहरण में भक्ति का त्याग उतना ही मूर्खतासूचक है जैसा कामधेनु का त्याग और आक की अन्वेषणा।

यह अलंकार माला रूप में भी होता है जिसमें बहुत से उपमा-सूचक वाक्य होते हैं।

उ०—सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनी गति शुभ गति व्यभिचारी।
लोभी यश चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥

अप्रस्तुत प्रशंसा।

अप्रकरण गत वस्तु की। जहाँ प्रशंसा होय।
अप्रस्तुत प्रशंसा। प्रस्तुत आश्रय सोय॥

अर्थ।

जिस वस्तु का वर्णन हो रहा है उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की प्रशंसा की जावे परन्तु उसका आशय प्रस्तुत वस्तु ही की प्रशंसा का हो तो अप्रस्तुत प्रशंसालंकार होता है। यहाँ पर प्रशंसा का अर्थ है वर्णन, चाहे निन्दा हो अथवा स्तुति। जैसे कारण वर्णन करना हो और कार्य वर्णन किया जावे या इसके विपरीत हो अथवा सामान्य वर्णन करना हो और विशेष वर्णन किया जावे या इसके विपरीत हो अथवा एक वस्तु के वर्णन करने के लिए उसके तुल्य दूसरी वस्तु का वर्णन किया जावे। दिङ्मात्र के लिए उदाहरण ये हैं:—

मातु पितहिं जनि शोच वश, करसि महीप किशोर
गर्भन के अर्भक दलन, परशु मोर अति घोर॥
मोहि अछत अस होउ उछाहू। लहहिँ लोग सब लोचन लाहू।

कारण रूप वध करने के बदले जो प्रकरण गत वस्तु है कार्य-रूप माता पिता का शोचवश करना कहा गया है जो अप्रस्तुत वस्तु है।

अतिशयोक्ति।

सम्बन्धासम्बन्ध में, भेदाभेद में यत्र।
कार्य हेतु में विपर्यय, अतिशयोक्ति है तत्र ॥

जहाँ पर संबन्ध में असंबन्ध हो या असंबन्ध में संबन्ध हो अर्थात् 'यदि' आदि शब्दों के प्रयोग से अलौकिक उपमा आदि स्थापित की जायँ, जहाँ पर भेद में अभेद हो अर्थात् उपमेय का नाम निकाल कर उसके स्थान में उपमान ही स्थापित कर दिया जावे या अभेद में भेद हो अर्थात् 'अन्य' आदि के प्रयोग से किसी वस्तु को और का और मानें, जहाँ पर कार्य और कारण में विपरीतता हो अर्थात् कारण के पहले ही या उसके साथ कार्य हो, तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

जो छवि सुधा पयोनिधि होई । परम रूप मय कच्छप सोई ।
शोभा रजु मन्दर शृङ्गारू । मथै पाणि पंकज निज मारू ॥

यहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल ॥

यहाँ पर सब असम्बद्ध वस्तुओं को 'जो' शब्द द्वारा सम्बद्ध किया है।

सुनि पति वचन कहति वैदेही । सुनहु प्राणपति परम सनेही ।
प्रभु करुणामय परम विवेकी । तनु तजि छाँह रहत किमि छेकी ॥
प्रभा जाइ कहँ भानु विहाई । कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई ।

इसमें तनु, भानु और चन्द्र के रामचन्द्र से भिन्न होने पर भी रामचन्द्र के स्थान पर उनका नाम रक्खा गया है और इसी प्रकार सीताजी के स्थान पर उनसे अत्यन्त भिन्न छाँह, प्रभा और चन्द्रिका का नाम स्थापित किया गया है।

राउर राजन नाम यश, सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मणि, मन अभिलाष तुम्हार॥

इसमें पहले फल और पीछे मनोऽभिलाष वर्णन किया गया है।

प्रतिवस्तूपमा।

यक साधारण धर्म को, वाक्य द्वय में स्थान।
प्रति वस्तूपम कहत हैं, दुहुँ को अर्थ समान॥

अर्थ।

जब एक ही साधारण धर्म दो वाक्यों में अर्थात् उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में पृथक् पृथक् शब्दों के द्वारा कहा जाता है तो प्रतिवस्तूपमालंकार होता है।

उ० (१)—तिनहिं सोहात न अवध बधावा। चोरहिं चांदनि राति न भावा।
(२) सो मैं वरणि सकौं विधि केहीं। डाबर कमठ कि मन्दर लेहीं॥

यहाँ पर एक ही साधारण धर्म 'सोहाना' और 'भाना' दो वाक्यों में भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा कहा गया है। दूसरे उदाहरण में अशक्तता रूप सामान्य धर्म भिन्न रूप से दो वाक्यों में स्थापित किया गया है।

दृष्टान्त।

धर्म आदि द्वय वाक्य में, जिमि बिम्बित प्रतिबिम्ब।
सुकवि कहत दृष्टान्त तहँ, ज्यों मणि दर्पण बिम्ब॥

अर्थ ।

जब दो वाक्यों में अर्थात् उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में धर्मादि अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है तब उसे दृष्टान्तालंकार कहते हैं। जैसे दर्पण में देखने से नासिका के स्थान पर दूसरी नासिका, कानों के स्थान पर दूसरे कान, और मुख के स्थान पर दूसरा मुख दिखाई देता है। बाह्य मुख और दर्पण-गत मुख नित्य ही भिन्न होते हैं अर्थात् उनमें केवल समानता रहती है, एकत्व कभी नहीं होता, इसी प्रकार दृष्टान्त में उपमान धर्म और उपमेय धर्म दो वाक्यों में पृथक् पृथक् स्थापित किये जाते हैं। ये दोनों धर्म वस्तुतः भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु एक दूसरे के सदृश होने के कारण अभिन्न हो जाते हैं। प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म एक ही होता है और एक ही अर्थ का कथन दो वाक्यों में दो प्रकार के शब्दों से किया जाता है। दृष्टान्त में साधारण धर्म दो होते हैं। और दो अर्थों का दो वाक्यों में पृथक् पृथक् स्थापन होता है, केवल उनमें परस्पर समता होती है। उपमा और दृष्टान्त में यह भेद है कि दृष्टान्त में 'जैसे', 'इव', यथा, आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता और सादृश्य केवल युक्ति विशेष से प्रकट होता है। अर्थान्तरन्यास (जो आगे कहा जायगा) और दृष्टान्त में यह भेद है कि प्रथम में विशेष का समर्थन सामान्य से और सामान्य का विशेष से होता है परन्तु दृष्टान्त में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का विशेष से होता है।

उदाहरण—(१) काटे पै कदली फलै, कोटि यतन करि सींच।
विनय न मान खगेश सुनु, डाटेहि पै नव नीच ॥

(२) कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु।
चलै कि जल बिन नाव, कोटि यतन पचि पचि मरै॥

(३) हंसगमनि तुम नहिं वन योगू, सुनि अपयश देहहिं मोहिं लोगू।
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली, जियहि कि लवण पयोधि मराली।
नव रसाल वन विहरणशीला, सोह कि कोकिल विपिन करीला।

दीपक।

प्रस्तुत अप्रस्तुत धरम, एक बार कहि देत।
सो दीपक कहलात यक, कारक क्रिया अनेक॥

अर्थ।

जब प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) वस्तुओं का धर्म अर्थात् क्रिया एक ही बार आवे और सबमें घटित हो जाय तो एक प्रकार का दीपक होता है और जब एक ही कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) के लिए अनेक क्रिया आवें तो दूसरे प्रकार का दीपक होता है।

उ०—राजनीत बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहिं समर्पे बिन सतकर्मा।
विद्या बिनु विवेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये॥
संग ते यती कुमन्त्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा।
प्रीति प्रणय बिनु मद ते गुनी। नाशहिं वेगि नीति अस सुनी॥

यहाँ पर राज्य प्रस्तुत और शेष अप्रस्तुत सबके लिए 'नासहिं' क्रियापद है।

धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हें। दीन्ह अशीश कृतारथ कीन्हें।

एक कारक मुनि के लिए सब क्रिया आई हैं। इसी प्रकार नीचेवाले में भी जानो।

जम्बुक निकर तहाँ कटकटहीं । खाहिं अघाहिं हुआहिं दपटहीं ॥

तुल्ययोगिता ।

जहँ वर्णत एक बार कछु, नियत वस्तु को धर्म ।
तुल्य योगिता होत सोइ, यह साहित्य को मर्म ॥

अर्थ ।

जहाँ पर नियत वस्तुओं का अर्थात् केवल उपमेय वस्तुओं का या केवल उपमान रूप वस्तुओं का कुछ धर्म (क्रिया आदि) एक ही बार कहा जाय और वह सबमें घटित हो जाय, वहाँ तुल्ययोगितालंकार होता है । इसमें और दीपक के प्रथम प्रकार में यह भेद है कि दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का धर्म होता है और इसमें केवल एक ही का ।

उ०—सब कर संशय अरु अज्ञाना । मन्द महीपन कर अभिमाना ।
भृगुपति केरि गर्व गरुआई । सुर मुनि वरन केरि कदराई ॥
सिय कर शोच जनक परितापा । रानिन कर दारुण दुख दापा ।
शम्भु चाप बढ़ वोहित पाई । चढ़े जाय सब संग बनाई ॥

सब प्रस्तुत वस्तुओं का क्रिया रूप धर्म 'चढ़े जाय' है । इसी प्रकार अप्रस्तुत वस्तुओं को जानना चाहिए ।

व्यतिरेक ।

वर्ण्य वस्तु उत्कर्ष जहँ, अप्रकृतिक अपकर्ष ।
व्यतिरेकालंकार सोइ, कवि वर करत विमर्ष ॥

अर्थ ।

जहाँ पर वर्णनीय वस्तु अर्थात् उपमेय की विशेषता हो या अप्रकृत अर्थात् उपमान में कमी हो वहाँ व्यतिरेकाऽलंकार होता है ।

उ०—(१) पूछन योग न तनय तुम्हारे। पुरुष सिंह तिहुँ पुर उजियारे।
जिनके यश प्रताप के आगे। शशि मलीन रवि शीतल लागे॥
(२) नव विधु विमल तात यश तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदय सदा अथइय कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
निशि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरण राम सुप्रेम पियूषा। गुरु अपमान दोष नहिं दूषा।

विभावना।

बिन कारण कारज उदय, विभावना कहि ताहि।

अर्थ

प्रसिद्ध कारण के बिना जब कार्य हो तो विभावनाऽलंकार होता है।

उदाहरण—(१) यहाँ शाप वश आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥
(२) दश दिशि दाह होन तब लागा। भयउ पर्व बिनु रवि उपरागा।

विशेषोक्ति।

होत न कारज हेतु सब, विशेषोक्ति यह आहि।

अर्थ।

प्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने पर भी जब कार्य न हो तो विशेषोक्ति अलंकार होता है।

उ०—(१) लाग न उर उपदेश, यदपि कहेउ शिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेश, हरि माया बल जानि जिय॥
(२) लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े, काहु न लखा देख सब ठाढ़े।

यथासंख्य।

यथासंख्य जहँ नियत को, क्रम ही से संख्यान।

जब कई पदार्थ किसी क्रम से रक्खे हों और उनका समन्वय अथवा सम्बन्ध उसी क्रम से किया जाय अर्थात् प्रथम का प्रथम से, द्वितीय का द्वितीय से, और इसी प्रकार आगे भी, तो यथासंख्या-ऽलंकार होता है ।

उदाहरण—सम प्रकाश तम पाख दुहुं , नाम भेद विधि कीन्ह ।
शशि पोषक शोषक समुझि , जग यश अपयश दीन्ह ॥

(२) राम प्रेम भाजन भरत , बढ़ी न यह करतूति ।
चातक हंस सराहियत , टेक विवेक विभूति ॥

अर्थान्तरन्यास ।

जहँ सामान्य विशेष वा, पुष्ट अन्य ते होय ।
सो अर्थान्तर न्यास है, सधरम विधरम दोय ॥

अर्थ ।

जहाँ सामान्य वाक्य को विशेष वाक्य पुष्ट वा समर्थित करे या विशेष वाक्य को सामान्य वाक्य पुष्ट करे तो अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । पोषण वा समर्थन करनेवाला वाक्य पहले वाक्य के समान धर्मवाला होगा या विरुद्ध धर्मवाला । इस प्रकार इस अलङ्कार के चार भेद होते हैं जो उदाहरणों से स्पष्ट होंगे । इस अलंकार और दृष्टान्त का भेद दृष्टान्तालंकार के विषय में दे चुके हैं ।

उ०—कारण ते कारज कठिन , होय दोष नहिं मोर ।
कुलिश अस्थि ते उपल ते , लोह कराल कठोर ॥

प्रथमार्ध में एक सामान्य धर्म अर्थात् कारण से कार्य का कठिन होना कहा गया है और उत्तरार्ध में एक विशेष वस्तु कुलिश के उदाहरण द्वारा वही अर्थ पक्का किया गया है। दोनों का समान धर्म है अर्थात् कठोरता विधि रूप से दिखाई गई है।

अस कहि चला विभीषण जबहीं। आयुहीन भे निशिचर तबहीं।
साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्याण अखिल कर हानी ॥

प्रथम चौपाई में राक्षसों का आयुहीन होना एक विशेष बात है उसका समर्थन दूसरी चौपाई से होता है जिसमें एक सामान्य बात अर्थात् सब कल्याणों का नष्ट हो जाना वर्णित है। दोनों का समान धर्म है।

रिपु तेजसी अकेल अति, लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि शशिहिं, शिर अवशेषित राहु ॥

प्रथमार्ध में सामान्य रिपु का वर्णन 'न गिनना चाहिए' इस प्रतिषेध रूप से है और उसका पोषण द्वितीयार्द्ध में एक विशेष शत्रु राहु के उदाहरण द्वारा विपरीत धर्म से अर्थात् 'अब भी दुःख देता है' इस रूप से हुआ है।

अब सुख सोचत शोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिं ॥

प्रथमार्ध में एक विशेष 'एकाकी' का वर्णन विधि रूप से है और पोषक वाक्य में सामान्य 'एकाकिन' का वर्णन 'स्त्रियाँ नहीं खटातीं' इस निषेध रूप से किया गया है।

विरोधाभास।

विरुधाभास विरुद्ध सों, भासै अविरुध शुद्ध।
जाति क्रिया गुण द्रव्य ते, दश विधि होहिं विरुद्ध ॥

अर्थ ।

जहाँ पर वस्तुतः अर्थ में कोई विरोध न हो परन्तु देखने में विरोध प्रतीत होता हो वहाँ विरोधाभास या विरोध अलंकार होता है। जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के भेद से यह अलंकार दश प्रकार का होता है। जैसे जाति का, (१) जाति से, (२) क्रिया से, (३) गुण से, और (४) द्रव्य से, क्रिया का (५) क्रिया से, (६) गुण से, और (७) द्रव्य से, गुण का (८) गुण से, और (९) द्रव्य से और (१०) द्रव्य का द्रव्य से।

३०– तृण ते कुलिश कुलिश तृण करहीं। तासु दूत कहु किमि पद टरहीं।

मूक होंहिं वाचाल, पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन॥

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिन्धु अनल शितलाई॥
गरुअ सुमेरु रेणु सम ताही। राम कृपा करि चितवहिं जाही।

बन्दौं मुनि पद कंजु, रामायण जिन निर्मयउ।
सकल सकोमल मंजु, दोषरहित दूषण सहित॥

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकइ पराइ विभूती॥

जाति ।

तृण, कुलिश, गरल, सुधा, रिपु, गोपद; सिन्धु, अनल, आदि शब्द।

क्रिया ।

चढ़ैं।

गुण ।

मूक, वाचाल, ऊँच, नीच आदि शब्द।

द्रव्य ।

मिताई, शितलाई आदि ।

स्वभावोक्ति ।

जाको रूप औ क्रिया जस, कहिये ताही रीति ।
स्वभावोक्ति ताकहँ सुकवि, भाषत हैं करि प्रीति ॥

अर्थ ।

किसी के जैसे रूप, क्रिया और स्वरूपादि होते हैं वैसेही वर्णन करने में स्वभावोक्ति अलंकार होता है । यदि वे स्वभावादि बहुत साधारण हों तो अत्यन्त स्फुट होने के कारण वहाँ अलंकार नहीं होता; यदि ये असाधारण और प्रतिभा मात्र से जानने योग्य हों तो काव्य चमत्कारक होकर अलंकार पैदा करते हैं ।

उ०— (१) सुनतहिँ लषण कुटिल भइँ भौंहैं । रद पुट फरकत नयन रिसौहैं ॥
(२) कान मूँद कर रद गहि जीहा । एक कहहिँ यह बात अलीहा ॥

व्याजस्तुति—

व्याजस्तुति निन्दा मिषहिं, स्तुति अथवा विपरीत ।

अर्थ ।

जहाँ पर देखने से तो निन्दा प्रतीत हो परन्तु अभिप्राय स्तुति का हो या देखने से स्तुति प्रतीत हो परन्तु अभिप्राय निन्दा का हो तो व्याजस्तुति अलंकार होता है ।

उ०—राम साधु तुम साधु सुजाना । राम मातु तुम भलि पहिचाना ॥
जस कौशला मोर भल ताका । तस फल देउ उन्हैं करि शाका ॥

यहाँ पर कैकेयी का अभिप्राय यह है कि राम ने, तुमने और कौशल्या ने मेरे साथ बड़ी असाधुता की है।

धन्य कीश जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहिं परि हरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करत कर्म निपुणाई॥

रावण के मत से यह कर्म निन्द्य है।

सहोक्ति—

सो सहोक्ति सह भाव ते शब्द दुअर्थ परतीत॥

अर्थ।

'सह' या 'सहित' आदि शब्दों के प्रयोग से जहाँ पर एकार्थ पद के दो अर्थ ले लिये जाते हैं वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

उ—त्रिभुवन जय समेत वैदेही। बिनहिं विचार बरै हठि तेही॥

यहाँ पर 'बरै' शब्द के अर्थ 'विवाह करे' और 'ग्रहण करे' ये हैं।

विनोक्ति—

एक विन दूजो सत असत, सो विनोक्ति पहिचान।

अर्थ।

जब बिना एक वस्तु के दूसरी वस्तु की शोभा या अशोभा वर्णन की जाती है तब विनोक्ति अलंकार होता है।

उ०—जिमि भानु बिनु दिन प्राण बिनु तनु, चन्द्र बिनु जिमि यामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझु री जिय भामिनी॥

परिवृत्ति—

अर्थ समासम विनिमय सो परिवृत्ति बखान।

अर्थ ।

जब समान अथवा असमान अर्थों अर्थात् वस्तुओं का विनिमय (अदला, बदला) वर्णन किया जावे तब परिवृत्ति अलंकार होता है ।

उ०—एकहिं बाण प्राण हरि लीन्हा । दीन जानि त्यहिं निज पद दीन्हा ॥
हरु विधि वेगि जनक जड़ताई । मति हमारि असि देहु सोहाई ॥
देन कहेउ वर अब जनि देहू । तजहु सत्य जग अपयश लेहू ॥

भाविक—

भाविक में प्रत्यक्ष सम भूत भविष्यत भाव ।

अर्थ ।

जब बीता हुआ अथवा आनेवाला भाव इस प्रकार वर्णित हो जैसे प्रत्यक्ष में होता है तो भाविकालंकार होता है ।

उ०—बारहिं बार सनेह वश , जनक बुलाउब सीय ।
लेन आइहहिं बन्धु दोउ , कोटि काम कमनीय ॥
मम पाछे धर धावत , धरे शरासन बाण ।
फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं, धन्य न मोसम आन ॥

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिंग जहँ हेतु को वाक्य पदार्थ में लाव ॥

अर्थ ।

जहाँ पर कोई हेतु किसी वाक्य के पदों में या अर्थ में दिया जाता है वहाँ काव्यलिंगाऽलंकार होता है ।

उ०—धर्महीन प्रभु पद विमुख, काल विवस दशशीश ।
आये गुण तजि रावणहिं, सुनहु कोशलाधीश ॥

तृतीय चरण गत वाक्य का हेतु दोहा के प्रथमार्ध में वर्णित है।

श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

न बखानने का कारण द्वितीयार्ध में दिया है।

पर्यायोक्त—

भङ्गि उक्ति ते जहँ वचन पर्यायोक्त सुजान।

अर्थ।

जब कोई कथनीय वाक्य किसी दूसरे प्रकार कहा जाता है और सीधे वाचक भाव से नहीं कहा जाता तो पर्यायोक्त अलंकार होता है।

उ०—सीताहरण तात जनि, कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तौ कुलसहित, कहहि दशानन आइ॥

"मैं रावण को अवश्य मारूँगा और रावण-वध वृत्तान्त के समेत सीता-हरण वृत्तान्त के सुनने से दशरथजी को शोक नहीं होगा जैसा कि केवल सीता-हरण वृत्तान्त सुनने से होगा" इस वाक्य को युक्तिविशेष के साथ दोहा के द्वितीयार्ध में कहा है।

उदात्त—

वस्तु समृद्धि उदात्त में बड़ सम्बन्धहि मान।

अर्थ।

जब किसी वस्तु की अलौकिक समृद्धि वा सम्पदा वर्णन की जाती है अथवा किसी प्रकरण-गत वस्तु का सम्बन्ध अंगिभाव से किसी महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति के साथ प्रकट किया जाता है तब उदात्तालंकार होता है।

उ०—जो जेहि मन भावै सो लेहीं । मणि मुख मेलि डारि कपि देहीं ।
कर जोरे सुर दिशप विनीता । भ्रुकुटि विलोकत सकल सभीता ॥
रमा-नाथ जहँ राज्य-पति, सो पुर वरणि न जाय ।
अणिमादिक सुख सम्पदा, रहीं अवधपुर छाय ॥

समुच्चय—

सिद्धि के कारण एक पै, दूजो कारण देय ।
गुण क्रिया को संग जहँ, सानि समुच्चय लेय ॥

अर्थ ।

जब सिद्धि का एक कारण वर्त्तमान हो परन्तु उसके साथ और भी कारण दिये जायँ तो समुच्चयाऽलंकार होता है । कार्य कारण में समर्थ बहुत से कारणों के समुच्चय होने से अर्थात् सब कारणों के एकही साथ दिये जाने से यह अलंकार होता है । काव्य-लिंग में केवल हेतुत्व मात्र से प्रयोजन है, और एक ही कारण से अलंकार हो जाता है । इसमें सबके समूह से प्रयोजन है अर्थात् एक ही कारण से यह अलंकार नहीं होता ।

उ०—ग्रह ग्रहीत पुनि बात वश, पुनि तेहि बीछी मार ।
ताहि पियाइय वारुणी, कहहु कवन उपचार ॥
एक डरत डर राम के, दूजे सीय अकेलि ।
लषण तेज तनु हत भये, जिमि दाधी दव वेलि ॥

दूसरे प्रकार का समुच्चय तब होता है जब दो गुण अथवा दो क्रिया या एक गुण और एक क्रिया साथही साथ होते हुए वर्णन किये जाते हैं ।

पर्य्याय—

एक विषय बहु थल बसै बहु एकहि पर्याय।

अर्थ।

जब एक ही वस्तु क्रम से बहुत स्थानों में रहे या स्थापित की जावे तो एक प्रकार का और जब अनेक वस्तुएँ क्रम से एक ही स्थान में रहें या स्थापित की जायँ तो दूसरे प्रकार का पर्याया-लंकार होता है।

उ०—मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी। अहि गिरि गज शिर सोह न तैसी। नृप किरीट तरुणी तनु पाई। लहहिं सकल शोभा अधिकाई॥ जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव विराजहीं। ....जे परसि मुनि बनिता लही गति ....। ते पद पखारत भाग्य भाजन जनक जय जय सब कहैं।

अनुमान—

सो अनुमान विचारिये हेतु ते साध्य को न्याय।

अर्थ।

जब किसी दिये हुए हेतु के द्वारा किसी अन्य वस्तु का अनुमान करते हैं तब अनुमानाऽलंकार होता है।

उ०—हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकाशा। सूचत किरण मनोहर हासा॥

चन्द्रमा के होने से उसकी किरणें दिखलाई देती हैं। इसलिए किरणों के देखने से चन्द्रमा की प्रतीति होती है। यहाँ पर हास-रूपी किरण दिखाई देती है जिससे अनुग्रहरूपी चन्द्रमा की प्रतीति होती है। किरण हेतु है और चन्द्रमा का होना साध्य है।

उ०—छुवत शिला भइ नारि सोहाई । पाहन ते न काठ कठिनाई ।
तरणिउ मुनि घरणी होइ जाई । बाट परै मेरी नाव उड़ाई ॥

परिकर—

परिकर साभिप्राय जहँ कहैं विशेषण लाय ॥

अर्थ

जहाँ पर विशेषण साभिप्राय होते हैं वहाँ परिकरालंकार होता है । विशेष्य के साभिप्राय होने पर किसी किसी के मत से परिकरांकुर नामक अलंकार होता है परन्तु हम उसे परिकर ही में सम्मिलित करते हैं ।

उ०—गूढ़ कपट प्रिय वचन सुनि , तिय अधीरबुधि रानि ।
सुर माया वश वैरिणिहि , सुहृद जानि पतिआनि ॥

यहाँ शत्रु को मित्र मानने में 'तिय' 'अधीरबुद्धि' 'रानी' शब्द साभिप्राय हैं ।

उ०—देहु उतर अस कहहु कि नाहीं । सत्यसिन्धु तुम रघुकुल माहीं ॥

'सत्यसिन्धु' यह प्रकट करता है कि तुम वरदान अवश्य दोगे ।

व्याजोक्ति—

व्याज उक्ति कछु छद्म ते लेत अकार दुराय ।

अर्थ ।

यदि किसी वस्तु का आकार अथवा रूप किसी छल से छिपा लिया जावे तो व्याजोक्ति अलंकार होता है ।

उ०—धरि धीरज इक सखी सयानी । सीता सन बोली गहि पानी ॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू । भूप किशोर देखि किन लेहू ॥

यहाँ पर नेत्र बन्द कर लेने से यह प्रकट हो जाने का सम्भव था कि सीताजी श्रीरामचन्द्रजी पर मोहित हैं। इसलिए 'सखी सयानी' ने गौरी के ध्यान के मिष से उसे छिपा दिया।

यह अपह्नुति नहीं है क्योंकि इसमें उपमेय और उपमान की सी समता नहीं है।

परिसंख्या—

अर्थ निषेधे एक थल, दूजे थल ठहराय।
परिसंख्या ताको कहत, शब्द अर्थ से लाय॥

अर्थ।

जहाँ पर एक वस्तु स्थापित की जावे परन्तु स्पष्ट शब्दों के द्वारा अथवा अर्थ के द्वारा उसके समान दूसरी वस्तु का निषेध हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

उ०—दण्ड यतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहिँ मनहिँ सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

कवि का आशय यह है कि अन्य राजाओं के समय में दुष्टों को दण्ड (निग्रह, सज़ा) देना पड़ता था, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में दुष्टों के अभाव से इस प्रकार के दण्ड (निग्रह) की कोई आवश्यकता नहीं थी; केवल यतियों और संन्यासियों के पास दण्ड (लाठी) रहता था। इसी प्रकार औरों का भी भाव है। यहाँ पर यतियों का दण्ड (लाठी) स्थापित किया गया है परन्तु अर्थ के द्वारा दुष्टों का दण्ड (निग्रह) निषिद्ध किया गया है। इसी प्रकार मन का जीतना (स्ववश करना) स्थापित है और शत्रुओं का जीतना निषिद्ध है।

कारण-माला—

पूरब पूरब हेतु जहँ पर पर कारणमाल ।

अर्थ ।

जब पूर्व कथित एक वस्तु पर कथित वस्तु का कारण हो और यह दूसरी वस्तु तीसरी वस्तु का कारण हो और इसी तरह आगे भी हो तो कारणमालाऽलंकार होता है । यह केवल उपलक्षण है । यदि किसी प्रकार एक वस्तु दूसरी का कारण हो और वह तीसरी का इत्यादि तो यही अलंकार होता है ।

उ०—धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना । ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना ।

यहाँ पर 'विरति' और 'योग' शब्दों का एक ही अर्थ है ।

उ०—बिनु सत संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥

अन्योन्य—

सो अनोन्य जहँ परस्पर वस्तु उपज यक काल ।

अर्थ ।

जब एक वस्तु दूसरी का कारण हो और उसके साथ ही साथ दूसरी पहली का अर्थात् दोनों वस्तुओं का बराबर सम्बन्ध हो तो अन्योन्याऽलंकार होता है ।

उ०—अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयम् ।
दुइ दण्ड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयम् ॥

उ०—राम तुमहिं प्रिय तुम प्रिय रामहिं । यह निर्दोष दोष विधि वामहिं ॥

सूक्ष्म—

लक्षित सूक्षम अर्थ कछु, अन्य प्रकाशै जाहि ।
कछुक गूढ़ व्यवहार ते, सूक्षम कहिये ताहि ॥

अर्थ ।

यदि तीक्ष्ण बुद्धि ही के द्वारा जानने के योग्य कोई अर्थ किसी प्रकार जाना जाय और किसी गुप्त रीति से दूसरे पर प्रकट किया जाय तो सूक्ष्मालंकार होता है ।

उदाहरण—

विनय प्रेम वश भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥

श्री सीताजी के हृदयगत भाव को भवानीजी ने जान लिया और गूढ़ व्यवहार से उसके उत्तर देने में माला खसी और मूर्ति मुसुकाई । इसी प्रकार;

गौतम तिय गति सुरति करि , नहिं परसति पद पानि ।
मन बिहँसे रघुवंश मणि , प्रीति अलौकिक जानि ॥

इसमें अलौकिक प्रीति को जान हँसना सूक्ष्मालंकार का मूल है ।

सार—

यक सों यक उत्कृष्ट जहँ । अन्त अवधि तक सार ।

अर्थ ।

जहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु उत्कृष्ट (अधिक अथवा उत्तम) हो और दूसरी से तीसरी और इसी प्रकार आगे भी, और अन्त में सबसे उत्कृष्ट वस्तु कही जाय, वहाँ सार अलंकार होता है ।

उ०—सब मम प्रिय सब मम उपजाये । सब ते अधिक मनुज मोहिं भाये ।।
तिन महँ द्विज द्विज महं श्रुतिधारी । तिन महँ निगम धर्म अनुसारी ।।
तिन महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी । ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी ।।
तिन ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आशा ।

असंगति—

अरु थल कारण और थल, कार्य असंगति कार ।

अर्थ ।

साधारणतः जिस देश में कारण होता है उसी देश में कार्य होता है परन्तु यदि दोनों का भाव भिन्न भिन्न स्थानों में हो तो असंगति अलंकार होता है ।

उ०—और करै अपराध कोइ , और पाव फल भोग ।
अति विचित्र भगवन्त गति , को जग जाने योग ।।
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ।

सम—

यथायोग्य को संग जहँ, मिलै सो सम पहिचान ।

अर्थ ।

जब एक दूसरी के योग्य दो वस्तुओं का योग कहा जाय तो समालंकार होता है ।

उ०—जेहि विरञ्चि रचि सीय सँवारी । तेहि श्यामल बर रच्यो विचारी ।।
सती विधात्री इन्दिरा , देखीं अमित अनूप ।
जेहि जेहि वेष अजादि सुर , तेहि तेहि तनु अनुरूप ।।

विषम—

सोइ विषम जहँ घटित नहिं, योग धर्म असमान ।

अर्थ।

जहाँ दो वस्तुओं के धर्म विलक्षण होने से उनका योग अनिष्ट हो, (कर्त्ता अपने मनोभीष्ट को न प्राप्त हो किन्तु किसी अनर्थ में पड़े, कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रिया एक दूसरे के अनुरूप न हों) तो विषमालंकार होता है।

उ०—कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा। शोष्यउ सुयश सकल संसारा।
शीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहिं शरद चाँदनी जैसे॥

अधिक।

जहँ आधार अधेय ते, अल्प अधेय अधार।
सुमहत करि वर्णन करै, सोइ अधिक निरधार॥

अर्थ।

जिस पात्र या स्थान में कोई वस्तु रहती है उसे आधार कहते हैं और जो वस्तु रहती है उसे आधेय कहते हैं। यदि आधार से छोटा आधेय हो अथवा आधेय से छोटा आधार हो परन्तु वर्णनीय वस्तु का उत्कर्ष दिखाने के लिए उससे बड़ा वर्णन किया जाय तो अधिकाऽलंकार होता है।

उ०—ब्रह्मांण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

यहाँ श्रीराम जननी का उर छोटा भी ब्रह्माण्ड निकायधारी श्रीरामचन्द्रजी के निवास के कारण बड़ा वर्णित है।

प्रत्यनीक।

पर प्रतिकार न करि सकै, सम्बन्धिहिं अपकार।
या विधि पर उत्कर्ष जहँ, प्रत्यनीक सुविचार॥

अर्थ ।

अपने प्रतिपक्षी (शत्रु) के साथ अपकार न कर सकने पर यदि उसके सम्बन्धवाले किसी दूसरे का तिरस्कार इस प्रकार किया जावे कि उस शत्रु का उत्कर्ष प्रकट हो तो प्रत्यनीकालंकार होता है ।

उ०—नहिं चितव जब कपि कोपि तब गहि दृशन लातन मारहीं ।
धरि केश नारि निकारि बाहर तेऽपि दीन पुकारहीं ॥

रावण का ध्यान न छुड़ा सकने पर वानरों ने उसकी स्त्रियों का यह अपमान किया । इससे रावण के धैर्य का उत्कर्ष ज्ञात होता है ।

मीलित ।

निज आगन्तुक चिह्न से, तिरोधान सम वस्तु ।
भेद न जानो जात है, कवि कहैं मीलित अस्तु ॥

अर्थ ।

जब किसी स्वाभाविक अथवा आगन्तुक (जो बाह्य कारण से उत्पन्न हो) चिह्न से उसी के साधारण चिह्नवाली दूसरी वस्तु स्वभावतः (बिना कर्ता के प्रयास के) छिप जावे तो मीलितालंकार होता है । व्याजोक्ति में प्रयासपूर्वक वस्तु का आकार छिपाया जाता है ।

उ०—सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी । दुख दम्पतिहि उमा हरषानी ।
नारद हू यह भेद न जाना । दशा एक समुझत बिलगाना ॥
सकल सखी गिरिजा गिरि मयना । पुलक शरीर भरे जल नयना ।

यहाँ पर पार्वतीजी का हर्ष जो पुलकित शरीर तथा जल भरे

नेत्रों से प्रकट हो जाता प्रकट नहीं होने पाया । कारण यह हुआ कि हिमालय, मैना और सखियों को नारद वाक्य सुनने से दुःख हुआ था और उनके शरीर दुःख से पुलकित तथा नेत्र अश्रुपूर्ण थे । पार्वतीजी तथा अन्य लोगों के लक्षण इतने समान थे कि 'नारद हू यह भेद न जाना' ।

स्मरण ।

कछु लखि सुमिरण वस्तु सम, सो सुमिरण कवि जान ।

अर्थ ।

जो पदार्थ किसी आकार विशेष से नियत किसी समय अनुभव किया गया हो और कालान्तर में उसी के समान वस्तु के देखने से स्मरण में आवे तो स्मरणालंकार होता है ।

उ०—प्राची दिशि शशि उगेउ सुहावा । सिय मुख सरिस देखि सुख पावा ॥

चन्द्रमा के देखने से उसके सदृश श्रीजानकीजी के मुख का स्मरण हुआ है ।

बीच बास करि यमुनहिं आये । निरखि नीर लोचन जल छाये ।

रघुबर वर्ण विलोकि वर, बारिं समेत समाज ।
होत विरह वारिधि मगन, चढ़े विवेक जहाज ॥

यमुनाजी का श्याम वर्ण जल देखकर श्याम वर्ण श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण हुआ है ।

भ्रान्तिमान् ।

भ्रान्ति मत् औरहि वस्तु में, औरै भ्रम जहँ भान ॥

अर्थ ।

प्रकरण-गत वस्तु को देखकर उसी के समान अप्रकरण-गत वस्तु की भ्रांति हो तो भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। इसमें तथा रूपक और अतिशयोक्ति में यह भेद है कि अन्तिम अलंकारों में भ्रम नहीं होता और समता केवल युक्ति विशेष से दिखलाई जाती है।

उ०—जो जेहि मन भावे सो लेहीं। मणि मुख मेलि डारि कपि देहीं।

नाना वर्ण मणियों के देखने से वानरों को नाना वर्ण फलों का भ्रम होता है, इसी लिए उन्हें मुख में डाल लेते हैं।

प्रतीप ।

उपमानहिं आक्षेप जहँ, अथवा निन्दा हेत।
ताही की उपमेयता, जानि प्रतीपहिं लेत ॥

अर्थ ।

जहाँ उपमान की निन्दा अथवा निषेध हो या उपमेय के सामने उसका तिरस्कार दिखलाने के लिए उसी को उपमेय मानें यद्वा किसी प्रकार उसका अपमान प्रकट करें तो प्रतीपालंकार होता है।

उ०—जन्म सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रंक ॥

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहा न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर-दुख द्रवहिं सुसन्त पुनीता ॥

सामान्य ।

प्रस्तुत अरु अप्रस्तुतहिं, गुण समानता लाय।
एक रूपता योग ते, सो सामान्य कहाय ॥

अर्थ।

प्रकरण-गत और अप्रकरण-गत वस्तुओं की गुण-समानता दिखलाने के अर्थ दोनों का योग हो और दोनों की एकरूपता दिखाई जावे तो सामान्याऽलंकार होता है। मीलित में एक ही वस्तु की प्रतीति होती है; और दूसरे का तिरोधान होता है। रूपक में दोनों की एकरूपता शब्द द्वारा अप्रतीत होती है और केवल अर्थ द्वारा प्रकट होती है। अतिशयोक्ति में उपमान ही को प्रकरण-गत वस्तु मान लेते हैं। यह भेद है।

उ०—बरवा रामायणे—

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाय
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाय॥

चंपक-पुष्प तथा सीताजी के शरीर का एक ही वर्ण होने से उस समय तक कोई भेद नहीं ज्ञात होता जब तक हार कुँभिलाता नहीं है।

विशेष।

सो विशेष आधार बिन, जहँ अधेय द्युति पाव।
एक वस्तु जहँ युगपद, ठौर अनेक दिखाव॥
एक काज के करत ही, अन्य अशक्य को भान।
या विधि एक विशेष के, तीन प्रकार विधान॥

अर्थ।

जहाँ पर बिना प्रसिद्ध आधार के आधेय रहे, (२) जहाँ पर एक ही वस्तु अनेक स्थानों में एक ही साथ रहे; (पर्याय में एक ही

वस्तुअनेक स्थानों में क्रम से रहती है) (३) और जहाँ पर एक काम करते समय दूसरा अशक्य काम भी हो जावे, वहाँ विशेषाऽलंकार होता है। दिङ्मात्र के लिए उदाहरण—

उ०—(१) सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित सिय भ्राता।
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर बेखा॥
जहँ चितवहिँ तहँ प्रभु आसीना। सेवहिँ सिद्ध मुनीश प्रवीना।
(२) महि पाताल नाक यश व्यापा। राम बरी सिय भंजयउ चापा॥

यहाँ पर एक ही वस्तु (राम लक्ष्मण और सीता) अनेक स्थानों पर स्थित हैं। इसी प्रकार एक ही यश तीन लोकों में पाया जाता है।

तद्गुण।

तद्गुण निज गुण तजि जहाँ, औरै गुण गहि लाय।

अर्थ।

अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाले अप्रकृत पदार्थ के समीप रहने से यदि प्रकरण-गत वस्तु अपना गुण त्याग करके उसका गुण धारण करे तो तद्गुणालंकार होता है।

उ०—शठ सुधरहिँ सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई।
धूमउ तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगन्ध बसाई॥

बरवा रामायणे—

केश मुकुत सखि मरकत मणिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुक्ता करत उदोत॥

बालों की श्यामता से कली का नील वर्ण मणिवत् दीखना

तथा हाथ के सम्पर्क से मुक्ता के समान प्रतीत होना। उन उन अंगों के उत्कर्ष का परिचय देता है ।

अतद्गुण ।

संगति हू लहिये न गुण, सु अतद्गुण सो कहाय ।

अर्थ ।

यदि योग होने से भी एक का गुण दूसरे में न आवे तो अतद्-गुणाऽलंकार होता है ।

उ०—खलउ करहिँ भल पाइ सुसंगू । मिटहि न मलिन स्वभाव अभंगू ।

यहाँ पर द्वितीयार्ध में अतद्गुण है क्योंकि सुसंग पाने पर भी मलिन स्वभाव नहीं मिटता ।

व्याघात ।

जेहि विधि साधै वस्तु यक, दूजो तेहि विपरीत ।
तेहि प्रकार ते साधई, सो व्याघात भणीत ॥

अर्थ ।

जब एक पुरुष एक काम एक प्रकार से करता है और दूसरा उसी प्रकार से उस काम के विपरीत करता है तो व्याघातालंकार होता है ।

उ०—सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी । दुख दम्पतिहिँ उमा हरखानी ॥

अपनी पुत्री के योगी जटिल नग्न पति मिलने का लक्षण सुनकर हिमालय तथा मैना को तो दुःख हुआ परन्तु उसी वृत्त को सुन कर शिवजी की स्त्री होने की आशा से उमा हर्षानी । इसी प्रकार;

बंदौं संत असज्जन चरणा । दुखप्रद उभय भेद कछु बरणा ।
मिलत एक दारुण दुख देहीं । बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं ॥

इसमें भी दूसरे प्रकार से व्याघातालंकार है ।

ऊपर केवल शुद्धालंकारों का वर्णन हुआ है। यदि एक ही वाक्य में (दोहा या चौपाई आदि में) कई अलंकार शब्दजनित या अर्थ-जनित या उभयजनित पाये जावें तो काव्य का विशेष चमत्कार प्रकट होता है। ऐसे अलंकार कभी तो स्फुटतया पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं और कभी एक दूसरे में इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनका भिन्न करना असम्भाव्य हो जाता है। इस प्रकार मिश्रित अलंकारों के दो भेद हुए।

संसृष्टि—

अलंकार जो द्विविध हैं, ताकहँ जहँ कछु मेल ।
भेद रूप से जानिये, सोइ संसृष्टि अपेल ॥

अर्थ ।

दो प्रकार के अलंकार होते हैं अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार। यदि किसी वाक्य में दो या अधिक शब्दालंकार या अर्थालंकार या दोनों इस प्रकार आवें कि एक दूसरे की अपेक्षा न रक्खें तो संसृष्टि नामक अलंकार होता है।

उ०—भंज्यो राम आप भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥

प्रथमार्ध में 'आप' 'चापू' में अनुप्रास, 'भव' 'भय' 'भंजन' में, अनुप्रास, और 'भव' शब्द में श्लेष है इसलिए इन अलंकारों की संसृष्टि है।

पावक मय शशि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहिं जानि हत भागी।

प्रथमार्ध में विशेषोक्ति, और उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा इन अर्थालंकारों की संसृष्टि है।

लसत मन्जु मुनि मण्डली , मध्य सीय रघुनन्द ।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे , भक्ति सच्चिदानन्द ॥

मकार का अनुप्रास, जनु शब्द से उत्प्रेक्षा और 'सीय रघुनन्दन' तथा 'भक्ति सच्चिदानन्द' में यथासंख्य; इन शब्दार्थालंकारों की संसृष्टि है ।

नील सरोरुह श्याम , तरुण अरुण वारिज नयन ।
करौ सो मम उर धाम , सदा क्षीर सागर शयन ॥

'सरोरुह श्याम' तथा 'वारिजनयन' में उपमा, 'तरुण अरुण' में यमक, क्षीर सागर से आकर उर में धाम करने से पर्याय इन सबकी संसृष्टि है ।

संकर—

अलंकार यक दूसरेहि , करै अनुग्रह यत्र ।
एक की निश्चय हानि ते , रह संशय सर्वत्र ॥
पद अभिन्न में अलंकृति , बहु प्रकार जहँ होय ।
सो संकर त्रय विधि कह्यो , राखेहु कछुक न गोय ॥

अर्थ ।

यदि अनेक अलंकार एक ही वाक्य में इस प्रकार मिश्रित हों कि एक दूसरे की अपेक्षा रक्खें अर्थात् एक के निकाल देने से दूसरे को भी हानि पहुँचे तो संकरालंकार होता है । यह तीन प्रकार से होता है:—

(१) जहाँ अलंकारों में अनुग्राहक अनुग्राह्य भाव हो अर्थात् एक अलंकार दूसरे का अंग हो ।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू । निरस विशद गुण मय फल जासू ।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा । वन्दनीय जेहि जग यश पावा ॥

साधु चरित कपास के सदृश है यह उपमा हुई। इस उपमा के साधारण धर्म यह हैं—निरस होना, फल का विशद गुणमय होना, और दुःख सह कर पराये छिद्रों का छिपाना। उपमान और उपमेय के विषय में इन गुणों के पृथक् पृथक् अर्थ हैं; जैसे कपास पक्ष में निरस होना = खट्टा मीठा आदि रसों से रहित होना, साधु पक्ष में निरस होना = रस अर्थात् राग द्वेषादि से रहित होना। कपास पक्ष में फल का विशद गुणमय होना = बोंड़ी का गुणों अर्थात् सूत्र-तन्तुओं से भरा होना; और साधु पक्ष में = परिणाम का उत्तम गुणों अर्थात् दया अहिंसा आदि से भरा होना, कपास पक्ष में छिद्र का अर्थ = शरीर के छिद्र; साधु पक्ष में छिद्र = दोष।

इस प्रकार एक एक शब्द के दो दो अर्थ लेने से श्लेष हुआ और यह श्लेष उपमा का अंग है, अर्थात् यदि शब्दों में श्लेष न हो तो उपमा निरर्थक बनी रहे। इसलिए श्लेष और उपमा का अंगांगिभाव संकर है।

जेहि मुनीश जो आयसु दीन्हा। सो जनु काज प्रथम तेइँ कीन्हा॥

आज्ञा के पहले कार्य का करना अतिशयोक्ति है और वह अतिशयोक्ति 'जनु' शब्द सूचित उत्प्रेक्षा में रक्खी गई है इसलिए उत्प्रेक्षा अंगी है और अतिशयोक्ति अंग है। दोनों का अङ्गाङ्गिभाव संकर है।

(२) जहाँ पर दो या अधिक अलंकारों के होने पर भी निश्चय रूप से किसी एक को ग्रहण न कर सकें, अर्थात् न तो किसी एक के होने का कोई विशेष साधक (प्रमाण या विधि) हो और न

दूसरों के खण्डन करने का कोई निषेध रूप वाक्य हो तो सन्देह संकर होता है।

उदाहरण—

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन नलिन भरे जल सिय के।

यहाँ पर 'लोचन नलिन' इसमें उपमा है अर्थात् कमल के समान नेत्र; और मुख्य वस्तु नेत्रों में जल का अश्रुरूप से भरना प्रसिद्ध है। इसी पद में रूपक भी हो सकता है अर्थात् लोचन ही कमल हैं और मुख्य वस्तु कमल में जल भरना असम्भवित नहीं है। अथवा कारणरूप सीताजी के दुःख का वर्णन न करके कार्य-रूप अश्रूद्गम रक्खा गया है इसलिए अप्रस्तुत प्रशंसा है। इन अलंकारों में से यहाँ पर कौन लिया जाय यह बात स्फुट नहीं है, अर्थात् यदि उपमा ग्रहण करें तो रूपक के खण्डन करने की कोई युक्ति नहीं; यदि रूपक लें तो उपमा खण्डित नहीं हो सकती और दोनों एक ही साथ किसी प्रकार भी नहीं लिये जा सकते। इसलिए सन्देह रूप संकर है।

रूपक के व्याख्यान में कहा जा चुका है कि प्रकरण अथवा अन्य शब्दों से बहुधा अलंकारों का निश्चय हो जाता है। यदि इस प्रकार का निश्चय हो सके तो सन्देह संकर नहीं होता किन्तु निश्चित अलंकार ही होता है।

(३) जहाँ पर अभिन्न अर्थात् एक ही पद में स्फुट रूप से दो या अधिक अलंकार हों वहाँ एक पद संकर होता है। इसमें और सन्देह संकर में यह भेद है कि इसमें दोनों या सब अलंकार स्पष्ट रहते हैं और सन्देह संकर में स्पष्टता नहीं होती। इसके अलंकार

एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते अर्थात् उनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता ।

३०—सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥

यहाँ पर जगजीवनदाता यह एक पद है अर्थात् तीन शब्द समास द्वारा मिले हुए हैं । जलद, जग, जीवन शब्दों में अनुप्रास है; जीवन शब्द में श्लेष भी है क्योंकि इसके दो अर्थ हैं—जिलाना और जल; [अर्थात् वही बादल जगत् को जीवन (जल) देता है और तद्द्वारा जीवन (प्राण) देता है]; एकही पद में दो शब्द अनुप्रास पैदा करते हैं और शिलष्ट हैं और ये दोनों अलंकार एक दूसरे से कोई प्रयोजन नहीं रखते; इसलिए यहाँ पर एक पद संकर है ।

समाप्ति ।

'रामचरितमानस' यह , मुक्ता फल की खानि ।
मैं कछु तट पर पायहुँ , अवगाहन नहिँ ज्ञानि ॥१॥
जे पुनि मज्जन-चतुर बुध , खोजहिँ गहरे पैठ ।
रत्न अमोल ते पावहिँ , यह जिय महँ दृढ़ बैठ ॥२॥
'मानस-दर्पण ' ग्रंथ में , कछुक रत्न सरसाहिँ ।
छिन्न भिन्न जो मिलहि इत, तेहि बुध लेहिँ निवाहि ॥३॥

शुभमस्तु ।